श्रीपरमात्मने नमः

मनको वश करने
के
कुछ उपाय

जिसने मनको जीता उसने
जगत्‌को जीत लिया

श्रीहरिः

मनको वश करनेके कुछ उपाय

१ इस लोक और परलोकके सारे भोगोंमें दुःख और दोष देखते हुए उनसे वितृष्ण होना ।

२ नियमानुवर्तिताका पालन करना, सारे कार्य नियमित-रूपसे करना ।

३ मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करते हुए उसे बुरे चिन्तनसे बचाना ।

४ मनके कहनेमें नहीं चलना ।

५ मनको सर्वदा सत्कार्यमें लगाये रखना ।

६ जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँसे हटाकर परमात्मामें लगाना अथवा सर्वत्र परमात्माकी भावना करते हुए मनको जहाँ कहीं भी जाने देना ।

७ एक तत्त्वका अभ्यास करना ।

८ नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना ।

९ शब्द श्रवण करना ।

१० भगवान्‌के नाम या मूर्त्तिका ध्यान और मानसिक पूजा करना ।

११ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा व्रत पालना ।

१२ परमार्थ-ग्रन्थोंका अध्ययन करना ।

१३ प्राणायाम करना ।

१४ श्वासके द्वारा नामका जप करना ।

१५ अनन्य मनसे भगवान्‌के शरण होना ।

१६ मनसे अलग होकर उसके कार्योंको देखना ।

१७ प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-कीर्तन करना ।

श्रीविष्णु

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ॥

श्रीहरिः

मनको वश करनेके कुछ उपाय*

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(गीता ६ । ३६)

श्रीभगवान् कहते हैं—'जिनका मन वशमें नहीं है उनके लिये योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है, परन्तु मनको वशमें किये हुए प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण महाराजके इन वचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मनको वश किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योग दुष्प्राप्य है, यदि कोई ऐसा चाहे कि मन तो अपने इच्छानुसार निरङ्कुश होकर विषयवाटिकामें स्वच्छन्द विचरण किया करे और परमात्माके दर्शन अपने आप ही हो जायँ, तो यह उसकी भूल है।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालेको मन वशमें करना ही पड़ेगा, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। परन्तु मन स्वभावसे ही बड़ा चञ्चल और बलवान् है, इसे वशमें करना कोई साधारण बात नहीं। सारे साधन इसीको वश करनेके लिये किये जाते हैं, इसपर विजय मिलते ही मानो विश्वपर विजय मिल जाती है। भगवान् शङ्कराचार्यने कहा है—'*जितं जगत् केन, मनो हि येन।*' जगत्को किसने

* इस पुस्तकमें जितने उपाय बतलाये गये हैं वे सभी किसी-न-किसी ऊँचे साधक या महात्मा पुरुषके द्वारा अनुभूत हैं।

जीता ।'—जिसने मनको जीत लिया ।' अर्जुनने भी मनको वशमें करना कठिन समझकर कातर शब्दोंमें भगवान्से यही कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
(गीता ६ । ३४)

'हे भगवन् ! यह मन बड़ा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है, इसे रोकना मैं तो वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ।'

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो बात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी ! मनको जीतना कठिन अवश्य है, भगवान्ने इस बातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
(गीता ६ । ३५)

भगवान्ने कहा, 'अर्जुन ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है ।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं, और इसके वश किये बिना दुःखोंकी निवृत्ति नहीं । अतएव इसे वश करना ही चाहिये, इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है ।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है ? यह आत्म और अनात्म-पदार्थके बीचमें रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है, यह स्वयं अनात्म और जड है किन्तु बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बस, मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं । मन विकारी है, इसका कार्य सङ्कल्प-विकल्प करना है, यह जिस पदार्थको भलीभाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है । यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति रागसे होती है, राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय । किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमें प्रवृत्त होता है परन्तु जिस विषयमें इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेषसे तत्काल लौट आता है, वास्तवमें द्वेषवाले विषयमें भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है । साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है । अब सोचना यह है कि यह वशमें क्योंकर हो ? इसके लिये उपाय भगवान्‌ने बतला ही दिया है—अभ्यास और वैराग्य । यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

(समाधिपाद १२)

जीता '—जिसने मनको जीत लिया।' अर्जुनने भी मनको वशमें करना कठिन समझकर कातर शब्दोंमें भगवान्‌से यही कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गीता ६। ३४)

'हे भगवन्! यह मन बड़ा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है, इसे रोकना मैं तो वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।'

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो बात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी? मनको जीतना कठिन अवश्य है, भगवान्‌ने इस बातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६। ३५)

भगवान्‌ने कहा, 'अर्जुन! इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं, और *इसके वश किये बिना दुःखोंकी निवृत्ति नहीं।* अतएव इसे वश करना ही चाहिये, इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है ? यह आत्म और अनात्म-पदार्थके बीचमें रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है, यह स्वयं अनात्म और जड है किन्तु बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बस, मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं । मन विकारी है, इसका कार्य सङ्कल्प-विकल्प करना है, यह जिस पदार्थको भलीभाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है । यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति रागसे होती है, राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय । किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमें प्रवृत्त होता है परन्तु जिस विषयमें इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेषसे तत्काल लौट आता है, वास्तवमें द्वेषवाले विषयमें भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है । साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है । अब सोचना यह है कि यह वशमें क्योंकर हो ? इसके लिये उपाय भगवान्‌ने बतला ही दिया है—अभ्यास और वैराग्य । यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

(समाधिपाद १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे ही चित्तका निरोध होता है', अतएव अब इसी अभ्यास और वैराग्यपर विचार करना चाहिये।

वशमें करनेके साधन

(१) भोगोंमें वैराग्य

जबतक संसारकी वस्तुएँ सुन्दर और सुखप्रद मालूम होती हैं तभीतक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पदार्थ दोषयुक्त और दुःखप्रद दीखने लगें (जैसे कि वास्तवमें ये हैं) तो मन कदापि इनमें नहीं लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गया भी तो उसी समय वापस लौट आवेगा, इसलिये संसारके सारे पदार्थोंमें (चाहे वे इहलौकिक हों या पारलौकिक) दुःख और दोषकी प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिये। ऐसा दृढ़ प्रत्यय करना चाहिये कि इन पदार्थोंमें केवल दोष और दुःख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दीखनेवाली वस्तुमें ही मन लगता है। यदि यह रमणीयता और सुखरूपता विषयोंसे हटकर परमात्मामें दिखायी देने लगे (जैसा कि वास्तवमें है) तो यही मन तुरंत विषयोंसे हटकर परमात्मामें लग जाय। यही वैराग्यका साधन है और वैराग्य ही मन जीतनेका एक उत्तम उपाय है। सच्चा वैराग्य तो संसारके इस दीखनेवाले स्वरूपका सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्माका नित्य भाव प्रतीत होनेमें है। परन्तु आरम्भमें नये साधकको मन वश करनेके लिये इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें दोष और दुःख देखना चाहिये, जिससे मनका अनुराग उनसे हटे।

श्रीभगवान्ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३ । ८)

'इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, (इस शरीरमें) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग (आदि) दुःख और दोष देखने चाहिये ।' इस प्रकार वैराग्यकी भावनासे मन वशमें हो सकता है । यह तो वैराग्यका संक्षिप्त साधन हुआ, अब कुछ अभ्यासोंपर विचार करें ।

(२) नियमसे रहना

मनको वश करनेमें नियमानुवर्तितासे बड़ी सहायता मिलती है । सारे काम ठीक समयपर नियमानुसार होने चाहिये। प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर रातको सोनेतक दिनभरके कार्योंकी एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेनी चाहिये कि जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने-आप स्वभावसे ही उस समय उसी कार्यमें लग जाय । संसार साधनमें तो नियमानुवर्तितासे लाभ होता ही है, परमार्थमें भी इससे बड़ा लाभ होता है । अपने जिस इष्ट-स्वरूपके ध्यानके लिये प्रतिदिन जिस स्थानपर, जिस आसनपर, जिस आसनसे जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमें किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये । पाँच मिनटका भी नियमित ध्यान अनियमित अधिक समयके ध्यानसे उत्तम है । आज दस मिनट बैठे, कल आध घंटे, परसों बिल्कुल लाँघा, इस प्रकारके साधनसे साधकको सिद्धि कठिनतासे मिलती है । जब पाँच

मिनटका ध्यान नियमसे होने लगे तब दस मिनटका करे, परन्तु दस मिनटका करनेके बाद किसी दिन भी नौ मिनट न होना चाहिये। इसी प्रकार स्थान, आसन, समय, इष्ट और मन्त्रका बार-बार परिवर्तन नहीं करना चाहिये। इस तरहकी नियमानुवर्तितासे भी मन स्थिर होता है। नियमोंका पालन खाने, पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने सभीमें होना चाहिये। नियम अपने अवस्थानुकूल शास्त्रसम्मत बना लेने चाहिये।

(३) मनकी क्रियाओंपर विचार

मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करना चाहिये। प्रतिदिन रातको सोनेसे पूर्व दिनभरके मनके कार्योपर विचार करना उचित है, यद्यपि मनकी सारी उधेड़बुनका स्मरण होना बड़ा कठिन है, परन्तु जितनी याद रहे उतनी ही बातोंपर विचार कर जो-जो सङ्कल्प सात्त्विक मालूम दें, उनके लिये मनकी सराहना करना और जो-जो सङ्कल्प राजसिक और तामसिक मालूम पड़ें, उनके लिये मनको धिक्कारना चाहिये। प्रतिदिन इस प्रकारके अभ्याससे मनपर सत्कार्य करनेके और असत्कार्य छोड़नेके संस्कार जमने लगेंगे, जिससे कुछ ही समयमें मन बुराइयोंसे बचकर भले-भले कार्योंमें लग जायगा। मन पहले भले कार्यवाला होगा, तब उसे वश करनेमें सुगमता होगी। कुसङ्गमें पड़ा हुआ बालक जबतक कुसङ्ग नहीं छोड़ता, तबतक उसे कुसङ्गियोंसे बुरी सलाह मिलती रहती है, इससे उसका वशमें होना कठिन रहता है, पर जब कुसङ्ग छूट जाता है तब

उसे बुरी सलाह नहीं मिल सकती, दिन-रात घरमें उसको माता-पिताके सदुपदेश मिलते हैं, यह भली-भली बातें सुनता है, तब फिर उसके सुधरकर माता-पिताके आज्ञाकारी होनेमें विलम्ब नहीं होता । इसी तरह यदि विषय चिन्तन करनेवाले मनको कोई एक साथ ही सर्वथा विषयरहित करना चाहे तो यह नहीं कर सकता । पहले मनको बुरे चिन्तनसे बचाना चाहिये, जब यह परमात्मसम्बन्धी शुभ चिन्तन करने लगेगा तब उसको वश करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी ।

(४) मनके कहनेमें न चलना

मनके कहनेमें नहीं चलना चाहिये । जबतक यह मन वशमें नहीं हो जाता तबतक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये । जैसे शत्रुके प्रत्येक कार्यपर निगरानी रखनी पड़ती है वैसे ही इसके भी प्रत्येक कार्यको सावधानीसे देखना चाहिये । जहाँ कहीं यह उल्टा-सीधा करने लगे वहीं इसे धिक्कारना और फटकारना चाहिये। मनकी खातिर भूलकर भी नहीं करनी चाहिये । यद्यपि यह बड़ा बलवान् है, कई बार इससे हारना होगा, पर साहस नहीं छोड़ना चाहिये । जो हिम्मत नहीं हारता वह एक दिन मनको अवश्य जीत लेता है । इससे लड़नेमें एक विचित्रता है, यदि दृढ़तासे लड़ा जाय तो लड़नेवालेका बल दिनोंदिन बढ़ता है और इसका क्रमश घटने लगता है, इसलिये इससे लड़नेवाला एक-न एक दिन इसपर अवश्य ही विजयी होता है । अतएव इसकी हाँ-में-हाँ न मिलाकर प्रत्येक कार्यमें खूब सावधानीसे

चाहिये । यह मन बड़ा ही चतुर है । कभी डरावेगा, कभी फुसलावेगा, कभी लालच देगा, बड़े-बड़े अनोखे रंग दिखलावेगा, परन्तु कभी इसके धोखेमें न आना चाहिये । भूलकर भी इसका विश्वास न करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे इसकी हिम्मत टूट जायगी, लड़ने और धोखा देनेकी आदत छूट जायगी । अन्तमें यह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञा पालन करनेवाला विश्वासी सेवक बन जायगा ।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर ।
मनके मत चलिये नहीं, पलक पलक मन और ॥

(५) मनको सत्कार्यमें संलग्न रखना

मन कभी निकम्मा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ काम इसको मिलना ही चाहिये, अतएव इसे निरन्तर काममें लगाये रखना चाहिये । निकम्मा रहनेसे ही इसे बुरी बातें सूझा करती हैं, अतएव जबतक नींद न आवे तबतक चुने हुए सुन्दर माङ्गलिक कार्योंमें इसे लगाये रखना चाहिये । जाग्रत् समयके सत्कार्योंके चित्र ही स्वप्नमें भी दिखायी देंगे ।

(६) मनको परमात्मामें लगाना

श्रीभगवान्ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(गीता ६ । २६)

'यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय वहाँ वहाँसे हटाकर बारंबार इसे परमात्मामें ही लगाना चाहिये ।'

मनको वशमें करनेका उपाय प्रारम्भ करनेपर पहले-पहले तो यह इतना जोर दिखलाता है—अपनी चञ्चलता और शक्तिमत्तासे ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदयमें निराशा-सी छा जाती है, परन्तु ऐसी अवस्थामें धैर्य रखना चाहिये । मनका तो ऐसा स्वभाव ही है और हमें इसपर विजय पाना है तब घबड़ानेसे थोड़े ही काम चलेगा ? मुस्तैदीसे सामना करना चाहिये । आज न हुआ तो क्या, कभी-न कभी तो वशमें होगा ही । इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

> शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
> आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
>
> (गीता ६ । २५)

'धीरे धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो, धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थिर करके और किसी भी विचारको मनमें न आने दे ।'

बड़ा धैर्य चाहिये, घबड़ाने, ऊबने या निराश होनेसे काम नहीं होगा । झाड़ूसे घर साफ कर लेनेपर भी जैसे धूल जमी हुई-सी दीख पड़ती है, उसी प्रकार मनको संस्कारोंसे रहित करते समय यदि मन और भी अस्थिर या अपरिच्छिन्न दीखे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । पर इससे डरकर झाड़ू लगाना बंद नहीं करना चाहिये । इस प्रकारकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये

कि किसी प्रकारका भी वृथा चिन्तन या मिथ्या सङ्कल्पोंको मनमें नहीं आने दिया जायगा। बड़ी चेष्टा, बड़ी दृढ़ता रखनेपर भी मन साधककी चेष्टाओंको कई बार व्यर्थ कर देता है साधक तो समझता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ पर मनदेवता सङ्कल्प-विकल्पोंकी पूजामें लग जाते हैं। जब साधक मनकी ओर देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ? इतने नये-नये सङ्कल्प, जिनकी भावना भी नहीं की गयी थी कहाँसे आ गये! बात यह होती है कि साधक जब मनको निर्विषय करना चाहता है तब संसारके नित्य अभ्यस्त विषयोंसे मनको फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मामें लगनेका इस समयतक उसे पूरा अभ्यास नहीं होता। इसलिये फुरसत पाते ही यह उन पुराने दृश्योंको (जो संस्काररूपसे उसपर अङ्कित हो रहे हैं) सिनेमाके फिल्मकी भाँति क्षण-क्षणमें एकके बाद एक उलटने लग जाता है। इसीसे उस समय ऐसे सङ्कल्प मनमें उठते हुए मालूम होते हैं, जो संसारका काम करते समय याद भी नहीं आते थे। मनकी ऐसी प्रबलता देखकर साधक स्तम्भित-सा रह जाता है, पर कोई चिन्ता नहीं। जब अभ्यासका बल बढ़ेगा तब यह संसारसे फुरसत मिलते ही तुरंत परमात्मामें लग जायगा। अभ्यास दृढ़ होनेपर तो यह परमात्माके ध्यानसे हटाये जानेपर भी न हटेगा। मन चाहता है सुख। जबतक इसे वहाँ सुख नहीं मिलता, विषयोंमें सुख दीखता है तबतक यह विषयोंमें रमता है। जब अभ्याससे विषयोंमें दुःख और परमात्मामें परम सुख प्रतीत होने लगेगा तब

यह स्वयं ही विषयोंको छोड़कर परमात्माकी ओर दौड़ेगा, परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये। यह मालूम होते ही कि मन अन्यत्र भागा है, तत्काल इसे पकड़ना चाहिये। इसको पक्के चोरकी भाँति भागनेका बड़ा अभ्यास है इसलिये ज्यों ही यह भागे त्यों ही इसे पकड़ना चाहिये।

जिस-जिस कारणसे मन सांसारिक पदार्थोंमें विचरे उस-उससे रोककर परमात्मामें स्थिर करे। मनपर ऐसा पहरा बैठा दे कि यह भाग ही न सके। यदि किसी प्रकार भी न माने तो फिर इसे भागनेकी पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय, परन्तु यह जहाँ जाय वहींपर परमात्माकी भावना की जाय, वहींपर इसे परमात्माके स्वरूपमें लगाया जाय। इस उपायसे भी मन स्थिर हो सकता है।

(७) एक तत्त्वका अभ्यास करना

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

(समाधिपाद ३२)

चित्तका विक्षेप दूर करनेके लिये पाँच तत्त्वोंमेंसे किसी एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। एक तत्त्वके अभ्यासका अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक वस्तुकी या किसी मूर्तिविशेष-की तरफ एक दृष्टिसे देखते रहना, जबतक आँखोंकी पलक न पड़े या आँखोंमें जल न आ जाय तबतक उस एक ही चिह्नकी तरफ देखते रहना चाहिये, चिह्न धीरे-धीरे छोटा करते रहना चाहिये। अन्तमें उस चिह्नको बिल्कुल ही हटा देना चाहिये।

'दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्'—अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर रहे। ऐसा हो जानेपर चित्तविक्षेप नहीं रहता। इस प्रकार प्रतिदिन आध-आध घंटे भी अभ्यास किया जाय तो मनके स्थिर होनेमें अच्छी सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार दोनों भुवोंके बीचमें दृष्टि जमाकर जबतक आँखोंमें जल न आ जाय तबतक देखते रहनेका अभ्यास किया जाता है, इससे भी मन निश्चल होता है, इसीको त्राटक कहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस प्रकारके अभ्यासमें नियमितरूपसे जो जितना अधिक समय दे सकेगा उसे उतना ही अधिक लाभ होगा।

(८) नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासनसे सीधा बैठकर, नाभिमें दृष्टि जमाकर जबतक पलक न पड़े तबतक एक मनसे देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मन स्थिर होता है। इसी प्रकार नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर बैठनेसे भी चित्त निश्चल हो जाता है। इससे ज्योतिके दर्शन भी होते हैं।

(९) शब्द श्रवण करना

कानोंमें अँगुली देकर शब्द सुननेका अभ्यास किया जाता है, इसमें पहले भौंरोंके गुंजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियोंके चुँचुहाने-जैसा शब्द सुनायी देता है, फिर क्रमशः घुँघुरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, मुरली, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और सिंहगर्जनके सदृश शब्द सुनायी देते हैं। इस प्रकार दस प्रकारके शब्द सुनायी देने लगनेके बाद दिव्य ॐशब्दका श्रवण होता है, जिससे

साधक समाधिको प्राप्त हो जाता है । यह भी मनके निश्चल करनेका उत्तम साधन है ।

(१०) ध्यान या मानसपूजा

सब जगह भगवान्‌के किसी नामको लिखा हुआ समझकर बारंबार उस नामके ध्यानमें मन लगाना चाहिये अथवा भगवान्‌के किसी स्वरूपविशेषकी अन्तरिक्षमें मनसे कल्पना कर उसकी पूजा करनी चाहिये । पहले भगवान्‌की मूर्तिके एक-एक अवयवका अलग-अलग ध्यान कर फिर दृढ़ताके साथ सारी मूर्तिका ध्यान करना चाहिये । उसीमें मनको अच्छी तरह स्थिर कर देना चाहिये । मूर्तिके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि संसारका भान ही न रहे । फिर कल्पना-प्रसूत सामग्रियोंसे भगवान्‌की मानसिक पूजा करनी चाहिये । प्रेमपूर्वक की हुई नियमित भगवदुपासनासे मनको निश्चल करनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है ।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता उपेक्षाका व्यवहार

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि एक उपाय यह भी बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । (समाधिपाद ३३)

'सुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुःखियोंके प्रति दया, पुण्यात्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है ।'

(क) जगत्‌के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे चित्तका ईर्ष्यामल दूर होता है, दाहकी आग बुझ जाती है। संसारमें लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं, यदि यही प्रियभाव सारे संसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्दका कारण हो ! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश हो जाय !

(ख) दुखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे पर-अपकाररूप चित्तमल नष्ट होता है। मनुष्य अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता, भविष्यमें कष्ट होनेकी सम्भावना होते ही पहलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्‌के सारे दुखी जीवोंके साथ हो जाय तो अनेक लोगोंके दु ख दूर हो सकते हैं। दु खपीड़ित लोगोंके दु ख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देनेकी प्रबल भावनासे मन सदा ही प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषारोपनात्मक मनका असूया-मल नष्ट होता है, साथ ही धार्मिक पुरुषकी भाँति चित्तमें धार्मिक वृत्ति जागृत हो उठती है। असूयाके नाशसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके संस्कार

अन्तःकरणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी घृणा नहीं होती। इससे चित्त शान्त रहता है।

इस प्रकार इन चारों भावोंके बारंबार अनुशीलनसे चित्तकी राजस, तामस वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है और उससे चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाग्रता लाभ कर सकता है।

(१२) सद्ग्रन्थोंका अध्ययन

भगवान्‌के परम रहस्यसम्बन्धी परमार्थ-ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे भी चित्त स्थिर होता है। एकान्तमें बैठकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि ग्रन्थोंका अर्थसहित अनुशीलन करनेसे वृत्तियाँ तदाकार बन जाती हैं। इससे मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

समाधिसे भी मन रुकता है। समाधि अनेक तरहकी होती है। प्राणायाम समाधिके साधनोंका एक मुख्य अङ्ग है। योगदर्शनमें कहा गया है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

(समाधिपाद ३४)

नासिकाके छेदोंसे अन्तरकी वायुको बाहर निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है। और प्राणवायुकी गति रोक देनेको विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायोंसे भी चित्त स्थिर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
(४।२९)

'कई अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, कई प्राणवायुमें अपानवायुको होमते हैं और कई प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाम किया करते हैं।'

इसी तरह योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त महाभारत, श्रीमद्भागवत और उपनिषदोंमें भी प्राणायामका यथेष्ट वर्णन है। श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम ही प्राणायाम है। मनु महाराजने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निसे तपाये जानेपर जैसे धातुका मल जल जाता है उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।'

प्राणोंको रोकनेसे ही मन रुकता है। इनका एक दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, मन सवार है तो प्राण वाहन है। एकको रोकनेसे दोनों रुक जाते हैं। प्राणायामके सम्बन्धमें योगशास्त्रमें अनेक उपदेश मिलते हैं परन्तु वे बड़े ही कठिन हैं। योगसाधनमें अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है। योगाभ्यासके लिये बड़े ही कठोर आत्मसंयमकी आवश्यकता है। आजकलके समयमें तो कई कारणोंसे योगका साधन एक प्रकारसे असाध्य ही समझना

चाहिये । यहाँपर प्राणायामके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जाता है कि बायीं नासिकासे बाहरकी वायुको अन्तरमें ले जाकर स्थिर रखनेको पूरक कहते हैं, दाहिनी नासिकासे अन्तरकी वायुको बाहर निकालकर बाहर स्थिर रखनेको रेचक कहते हैं और जिसमें अन्तरकी वायु बाहर न जा सके और बाहरकी वायु अन्तरमें प्रवेश न कर सके, इस भावसे प्राणवायु रोक रखनेको कुम्भक कहते हैं । इसीका नाम प्राणायाम है ।

साधारणतः चार बार मन्त्र जपकर पूरक, सोलह बारके जपसे कुम्भक और आठ बारके जपसे रेचककी विधि है, परन्तु इस सम्बन्धमें उपयुक्त सद्गुरुकी आज्ञा बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिये । योगाभ्यासमें देखादेखी करनेसे उल्टा फल हो सकता है । *'देखादेखी साधे जोग । छीजे काया बाढ़े रोग ॥'* पर यह स्मरण रहे कि प्राणायाम मनको रोकनेका एक बहुत ही उत्तम साधन है ।

(१४) श्वासके द्वारा नाम-जप

मनको रोककर परमात्मामें लगानेका एक अत्यन्त सुलभ और आशङ्कारहित उपाय और है, जिसका अनुष्ठान सभी कर सकते हैं, वह है—आने-जानेवाले श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ध्यान रखकर श्वासके द्वारा श्रीभगवान्‌के नामका जप करना । यह अभ्यास बैठते, उठते, चलते, फिरते, सोते, खाते, हर समय प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है । इसमें श्वास जोर-जोरसे लेनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं । श्वासकी साधारण चालके साथ-ही-साथ नामका जप किया जा सकता है । इसमें लक्ष्य रखनेसे ही मन

रुककर नामका जप हो सकता है। श्वासके द्वारा नामका जप करते समय चित्तमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो मन आनन्दसे उछला पड़ता हो। आनन्दरससे छका हुआ अन्तःकरण-रूपी पात्र मानो छलका पड़ता हो। यदि इतने आनन्दका अनुभव न हो तो आनन्दकी भावना ही करनी चाहिये। इसीके साथ भगवान्‌को अपने अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। मानो उनके समीप होनेका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस भावसे संसारकी सुधि भुलाकर मनको परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१५) ईश्वर-शरणागति

ईश्वर प्रणिधानसे भी मन वशमें होता है। अनन्य भक्तिसे परमात्माकी शरण होना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। 'ईश्वर' शब्दसे यहाँपर परमात्मा और उनके भक्त दोनों ही समझे जा सकते हैं। *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'*, *'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'*, *'तन्मयाः'*—इन श्रुति और भक्तिशास्त्रके सिद्धान्त-वचनोंसे भगवान्, ज्ञानी और भक्तोंकी एकता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके प्रभाव और चरित्रके चिन्तनमात्रसे चित्त आनन्दसे भर जाता है। संसारका बन्धन मानो अपने-आप टूटने लगता है। अतएव भक्तोंका सङ्ग करने, उनके उपदेशोंके अनुसार चलने और भक्तोंकी कृपाको ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय समझनेसे भी मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। भगवान् और सच्चे भक्तोंकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

(१६) मनके कार्योंको देखना

मनको वशमें करनेका एक बड़ा उत्तम साधन है—'मनसे अलग होकर निरन्तर मनके कार्योंको देखते रहना।' जबतक हम मनके साथ मिले हुए हैं तभीतक मनमें इतनी चञ्चलता है। जिस समय हम मनके द्रष्टा बन जाते हैं उसी समय मनकी चञ्चलता मिट जाती है। वास्तवमें तो मनसे हम सर्वथा भिन्न ही हैं। किस समय मनमें क्या सङ्कल्प होता है इसका पूरा पता हमें रहता है। बम्बईमें बैठे हुए एक मनुष्यके मनमें कलकत्तेके किसी दृश्यका सङ्कल्प होता है इस बातको वह अच्छी तरह जानता है। यह निर्विवाद बात है कि जानने या देखनेवाला जाननेकी या देखनेकी वस्तुसे सदा अलग होता है। आँखको आँख नहीं देख सकती, इस न्यायसे मनकी बातोंको जो जानता या देखता है वह मनसे सर्वथा भिन्न है, भिन्न होते हुए भी वह अपनेको मनके साथ मिला लेता है, इसीसे उसका जोर पाकर मनकी उद्दण्डता बढ़ जाती है। यदि साधक अपनेको निरन्तर अलग रखकर मनकी क्रियाओंका द्रष्टा बनकर देखनेका अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र सङ्कल्परहित हो सकता है।

(१७) भगवन्नाम-कीर्तन

मग्न होकर उच्च स्वरसे परमात्माका नाम और गुण-कीर्तन करनेसे भी मन परमात्मामें स्थिर हो सकता है। भगवान् चैतन्यदेवने तो मनको निरुद्ध कर परमात्मामें लगानेका यही परम साधन बतलाया है। भक्त जब अपने प्रभुका नाम-कीर्तन करते-करते गद्गदकण्ठ, रोमाञ्चित और अश्रुपूर्णलोचन होकर प्रेमावेशमें अपने-आपको सर्वथा

भुलाकर केवल प्रेमिक परमात्माके रूपमें तन्मयता प्राप्त कर लेता है तब भला मनको जीतनेमें और कौन-सी बात बच रहती है? अतएव प्रेमपूर्वक परमात्माका नाम-कीर्तन करना मनपर विजय पानेका एक अत्युत्तम साधन है।

इस प्रकारसे मनको रोककर परमात्मामें लगानेके अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमेंसे या अन्य किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारसे भी मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनके स्थिर किये बिना अन्य कोई भी अवलम्ब नहीं। जैसे चञ्चल जलमें रूप विकृत दीख पड़ता है उसी प्रकार चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता। परन्तु जैसे स्थिर जलमें प्रतिबिम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है इसी प्रकार केवल स्थिर मनसे ही आत्माका यथार्थस्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। अतएव प्राणपणसे मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अबतक जो इस मनको स्थिर कर सकते हैं वे ही उस श्यामसुन्दरके नित्यप्रसन्न नवीन नील-नीरद प्रफुल्ल मुखारविन्दका दर्शनकर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं। जिसने एक बार भी उस 'अनूपरूपशिरोमणि' के दर्शनका संयोग प्राप्त कर लिया वही धन्य हो गया। उसके लिये उस सुखके सामने और सारे सुख फीके पड़ गये। उस लाभके सामने और सारे लाभ नीचे हो गये।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'जिस लाभको पा लेनेपर उससे अधिक और कोई सा लाभ भी नहीं जँचता।'

यही योगसाधनका परम फल है अथवा यही परम योग है।

ब्रह्मचर्य

श्रीपरमात्मने नमः

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचर्य और तपसे देवताओंने मृत्युको जीत लिया ।

जिस देशमें प्रत्येक बालकके लिये ब्रह्मचर्य अनिवार्य था, जिस जातिकी समुन्नतिके चार नियमित आश्रमोंमें ब्रह्मचर्य सबसे पहला आश्रम था, बड़े खेदका विषय है कि उसी देश और उसी ब्रह्मचारियोंकी जातिमें आज ब्रह्मचर्यका अभाव हो गया है । जिस देशके शिशु सिंहोंके साथ खेलते थे, जिस देशके शिशुओंके पदाघातसे पहाड़की चट्टानें चकनाचूर हो जाती थीं, वही वीर्य-प्रधान देश आज निर्वीर्य और सत्त्वहीन हो गया है । आज देशके लाखों बालक ब्रह्मचर्यके आचरणसे भ्रष्ट होकर युवावस्था आनेके पूर्व ही अपक्व वीर्यका नाश कर सदाके लिये बुद्धि, बल, तेज और उत्साहसे हाथ धो बैठते हैं । लाखों युवक नाना प्रकारकी दुर्व्याधियों-से पीड़ित हैं और लाखों अपने माता-पिता और निराधारा युवती पत्नीको रुलाकर मृत्युके अधीन हो रहे हैं । संयम, नियम, साधन,

सुख और मनुष्यत्वका तो भीषण ह्रास हो रहा है। इस दुर्दशाग्रस्त देशकी रक्षा ब्रह्मचर्यकी पुन प्रतिष्ठासे ही हो सकती है। इसीलिये इस विषयपर शास्त्र, सत्पुरुषोंके वाक्य और अपने अनुभवके आधार पर कुछ लिखनेका विचार किया गया है।

हमारे जीवनका लक्ष्य और उसका साधन

प्राचीन ऋषि-मुनियोंने सुखके अन्वेषणमें प्रयत्न करते हुए बड़े अनुभवसे यह सिद्धान्त निश्चित किया कि नित्यसुखकी प्राप्ति केवल एक परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें है, यही मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है, जबतक मनुष्य जगत्की सारी अनेकतामें एक व्यापक विभुको उपलब्ध नहीं करता तबतक उसके दु खोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह उस एक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्दको प्राप्त करे और इसीलिये जीवको भगवत्कृपासे यह देवदुर्लभ मानव-देह प्राप्त हुई है। परन्तु उसकी सुगमतापूर्वक प्राप्ति कैसे हो ? इसीलिये मनीषियोंने चार आश्रमोंका विधान किया और उनमें ऐसा क्रम रक्खा कि जिससे संसारक्षेत्रमें भी किसी प्रकारकी बाधा न आवे और मनुष्य क्रमश मुक्तिकी ओर भी दृढ़ताके साथ अग्रसर होता जाय। आरम्भसे ही ऐसी व्यवस्था की गयी कि जिसमें प्रत्येक आर्य-बालकके हृदयमें ब्रह्मप्राप्तिका लक्ष्य स्थिर हो जाय और संयम-नियमपूर्वक रहकर वह उसीके उपयोगी सर्व प्रकारकी शिक्षा प्राप्त कर सके। इसीलिये पहले आश्रमका नाम हुआ 'ब्रह्मचर्य'। जब इस आश्रमकी सारी क्रियाओंको पूर्ण कर वह

तेजस्वी युवक ब्रह्मचर्यकी कठिन परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता था तब उसे दूसरे महान् दायित्वपूर्ण आश्रम 'गृहस्थ' में प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता था और यहाँ भी उसे ब्रह्मकी प्राप्तिके लक्ष्यको सदा ध्यानमें रखते हुए निश्छलहृदय होकर अपनी प्रत्येक धर्मानुमोदित क्रिया उसी ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये भगवदर्पण-बुद्धिसे सम्पन्न करनी पड़ती थी। जब वह गृहस्थके सारे कर्मोंको कर चुकता तब उसे तीसरे आश्रम 'वानप्रस्थ' में प्रवेश करना पड़ता और वहाँ सम्यक् प्रकारसे त्यागकी तैयारी की जाती और जब पूरी तैयारी हो चुकती तब चतुर्थाश्रम 'संन्यास' की दीक्षा ग्रहण कर मनुष्य देहाभिमान-सहित बाह्य वस्तुओंका भी सर्वथा परित्याग कर परमात्मामें लीन हो जाता। सौ वर्षकी आयुके हिसाबसे यह नियम था कि पहले चौबीस सालतक मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन करे, पचीससे पचासतक गृहस्थ-में रहे, पचास पूरे होते ही दम्पति अरण्यवासी होकर वानप्रस्थाश्रम-का सेवन करे और पचहत्तरवें वर्षसे जीवनके शेष मुहूर्ततक संन्यासाश्रममें रहे। लोग कह सकते हैं कि "यह व्यवस्था तो सौ वर्षकी आयुके कालमें थी, इस समय यह क्योंकर हो सकती है ?" परन्तु वे भूलते हैं। यदि शास्त्रके व्यवस्थानुसार मनुष्य चौबीस सालतक अखण्ड ब्रह्मचर्यका सेवन करे तो अब भी सौ वर्षकी आयुका प्राप्त होना कोई बड़ी बात नहीं है। आयु घटनेका कारण तो ब्रह्मचर्यका नाश ही है। जब देशमें ब्रह्मचर्यका पूर्ण प्रचार था तब यहाँ न तो इतनी व्याधियाँ थीं और न युवावस्थामें प्राय कोई मरता ही था। परन्तु आजकी दशा उससे सर्वथा विपरीत

[

है। हमने जीवनके मूल ब्रह्मचर्यको छोड़ दिया, इसीसे हमारी ऐसी दुरवस्था हो गयी। यह स्मरण रखना चाहिये कि जबतक हमारे देशमें ब्रह्मचर्यकी पुनः प्रतिष्ठा नहीं होती तबतक हमारा उत्थान होना बड़ा ही कठिन है। कच्ची नींवपर इमारत नहीं उठ सकती। यदि उठा दी जाती है तो वह इतनी कमजोर होती है कि जरा-से धक्केसे ही गिर पड़ती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यके बिना जीवन नहीं टिक सकता, यदि कहीं कुछ रहता है तो वह दुःखसे भरा हुआ रहता है, सो भी स्वल्प कालके लिये ही। यही कारण है कि आज हमारी इतनी दुर्दशा है।

वीर्यधारण ही ब्रह्मचर्य है

शरीरमें ओजस् धातुका होना ही जीवनका कारण है। वाग्भट कहते हैं—

> ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
> हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥
> यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयाः।
> यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
> निष्पाद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
> उत्साहप्रतिभाधैर्यलावण्यसुकुमारताः॥

रससे लेकर वीर्यतक सातों धातुओंका जो तेज है उसे ओजस् कहते हैं, ओजस् प्रधानतया हृदयमें रहता है, पर वह समस्त शरीरमें व्याप्त है। ओजसकी वृद्धिसे ही तुष्टि, पुष्टि और बलकी उत्पत्ति होती है। ओजसके नाशसे ही मृत्यु होती है। यह ओजस्-पदार्थ

ही जीवनका आधार है, इसीसे उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य और सुकुमारताकी प्राप्ति होती है।' यह ओजस् कहाँसे आता है? महर्षि सुश्रुत कहते हैं—

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमिति।

'रससे शुक्रतक सातों धातुओंके परम तेज भागको ओजस् कहते हैं, यही बल है।' यह ओजस् कैसा है और कहाँ रहता है? शार्ङ्गधरका वचन है—

ओजः सर्वशरीरस्थं स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम्॥

'ओजस् सारे शरीरमें रहता है, यह स्निग्ध, शीतल, स्थिर, श्वेतवर्ण, सोमात्मक और शरीरके लिये बल तथा पुष्टिका देनेवाला है।'

इससे सिद्ध हो गया कि इस ओजसूकी उत्पत्ति वीर्यसे होती है। अतएव वीर्य ही जीवनधारणका प्रधान उपादान है, यही जीवनका प्रधान अवलम्बन है। अब यह जानना चाहिये कि वीर्य क्या है और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? आयुर्वेदके अनुसार शरीरमें सात धातुओंका रहना आवश्यक है, ये पदार्थ मनुष्य-जीवनको धारण करते हैं, इसीसे इन्हें धातु कहते हैं।

एते सप्त स्वयं स्थित्वा देहं दधति यन्नृणाम्।
रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः॥

'रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र (वीर्य)—ये सात पदार्थ स्वयं स्थित रहकर मनुष्योंकी देहको धारण करते हैं,

इसीसे इनका नाम धातु है, मनुष्य जो कुछ भी खाता-पीता, शरीरपर लगाता या सूँघता है, वह शरीरमें जाकर सबसे पहले रसकी उत्पत्ति करता है और उसीसे क्रमश अन्य धातुएँ बनती हैं।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥
(सुश्रुत)

भोजनका सबसे पहले रस बनता है, रससे रुधिर, रुधिरसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे सातवाँ सबका सार पदार्थ "वीर्य" बनता है। (यही वीर्य ओजसूरूपी महान् तेज बनकर सम्पूर्ण शरीरमें चमकने लगता है।)

एक धातुके पचकर दूसरी धातु बननेमें पाँच दिन लगते हैं, सार पदार्थ तो शरीरमें रह जाता है और पाचनकी प्रत्येक क्रिया-में बचा हुआ कूड़ा-कचरा मल-मूत्र, पसीना, मैल, नाखून और दाढ़ी आदिके बालोंके रूपमें बाहर निकल जाता है। वीर्य बनते ही उसकी पाचनक्रिया रुक जाती है और वह सार पदार्थ ओजस्-के रूपमें शरीरमें स्थित रहता है। इस प्रकार रससे लेकर वीर्य बननेमें प्रत्येक धातुमें पाँच दिनके हिसाबसे छः धातुओंके पाचनमें तीस दिन लगते हैं। आजके खाये हुए पदार्थका तीसवें दिन वीर्य बनता है। पक्के चालीस सेर भोजनसे एक सेर रक्त बनता है और उस एक सेर रुधिरसे दो तोला वीर्य बनता है। प्रतिदिन पक्का एक सेर खानेवाला मनुष्य भी एक महीनेमें तीस सेर ही पदार्थ

खाता है। उपर्युक्त हिसाबसे तीस सेर खूराकसे एक महीनेमें डेढ़ तोला वीर्य बनता है, यह महीनेभरकी कमाई है। एक बारके स्त्री-सहवासमें डेढ़ तोलेसे कम वीर्य नहीं जाता। अब विचार करना चाहिये कि जो महीनेभरकी कमाई एक क्षणमें खो देता है और उसे प्रतिदिन इसी प्रकार खोना चाहता है उसका दिवाला निकलते क्या देर लगती है? शास्त्रोंमें कहा है—

> शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्मृतम्।
> गर्भबीजं वपुःसारो जीवनाश्रय उत्तमः॥

वीर्य सौम्य, श्वेत, स्निग्ध, बल और पुष्टिकारक, गर्भका बीज, शरीरका श्रेष्ठ सार और जीवनका प्रधान आश्रय है। यह—

> यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा।
> एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥

—सबके शरीरमें उसी प्रकारसे व्यापक है जैसे दूधमें घी और ईखके रसमें गुड़ व्यापक रहता है।

इसीलिये जैसे दूधमेंसे मक्खन निकालनेमें दूधको मथना और ईखमेंसे गुड़ निकालनेमें ईखको निचोड़ना पड़ता है वैसे ही एक बूँद वीर्यको निकालनेमें सारे शरीरको मथना या निचोड़ डालना पड़ता है। जैसे घी निकालनेके बाद दूध सारहीन, निस्तेज और ईखका दण्ड खोखला और चूर चूर हो जाता है वैसे ही वीर्यके निकलनेसे शरीर भी सारहीन, निस्तेज, खोखला और चूर चूर हो जाता है, शरीरकी तमाम नाड़ियाँ ढीली पड़ जाती हैं और प्रत्येक अवयवमें उदासी छा जाती है। वीर्यके पतनमें ही

मनुष्यका पतन है और वीर्यके धारणमें ही मनुष्यका जीवन है। 'वीर्यधारणको ही ब्रह्मचर्य कहते हैं'—

'वीर्यधारणं ब्रह्मचर्यम्'

शिवसंहितामें कहा है—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम्॥

'बिन्दुपातसे ही मृत्यु है और इस बिन्दुके धारणमें ही जीवन है, अतएव अति प्रयत्नपूर्वक बिन्दु धारण करना चाहिये।' भगवान् शिवजी इसी (बिन्दुधारण) ब्रह्मचर्यके प्रतापसे इतने प्रभाव-सम्पन्न हैं जो हलाहल विषको पीकर भी स्वस्थ रह सके। यह सब माहात्म्य कामदेवपर विजय करनेका ही है। भगवान् शिव स्वयं कहते हैं—

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशोऽभवत्॥

जिसके प्रभावसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें मेरी ऐसी महिमा हुई है उस (वीर्य) बिन्दुके धारणसे जगत्में कौन-सा कार्य ऐसा है जो सिद्ध नहीं हो सकता !

भक्तराज हनूमान् और पितामह भीष्मके ब्रह्मचर्यका प्रताप जगत्प्रसिद्ध है। वास्तवमें यह सर्वथा सत्य बात है कि ब्रह्मचर्य ही सारे पुरुषार्थोंका मूल है। इससे मनुष्य सदा नीरोग और सुखी रहता है, इसीसे अकाल, जरा और मृत्युसे रक्षा होती है, इसीसे हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ और धर्मपरायण सन्तान उत्पन्न होती है, इसीसे

मनुष्य दीर्घजीवी, बुद्धिसम्पन्न, सत्यवादी, जितेन्द्रिय और धर्मनिष्ठ होता है, इसीसे भजन और ध्यानकी योग्यता प्राप्त होती है, इसीसे योगके साधनोंमें रुचि और सिद्धि प्राप्त होती है, इसीसे मनुष्य निर्भय और विनम्र होकर जगत्की सेवा कर सकता है और इसीके बलसे अन्तमें परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है। यही सर्वप्रथम परम साधन है। प्रजापति ब्रह्माजीने देवराज इन्द्रसे दीर्घकालतक ब्रह्मचर्यका पालन करानेके बाद ही उसे ब्रह्मविद्याके उपदेशका अधिकारी समझा था। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'

(८।११)

'परमात्माकी प्राप्तिके इच्छुक ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं।' अतएव यदि हमें भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा है तो मन लगाकर स्वयं ब्रह्मचर्यका सेवन करना और अपनी सन्तानोंसे करवाना चाहिये, जिससे आगे चलकर वे भगवत्प्राप्तिके अधिकारी बन सकें। जो लोग ऐसा नहीं करते वे अपने ही पैरोंपर आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं।

वीर्यनाश और उससे हानि

वीर्यका नाश मैथुनसे होता है। हमारे शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन बतलाये गये हैं और उनसे बचनेको ही ब्रह्मचर्य कहा है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

(१) किसी स्त्रीका किसी अवस्थामें स्मरण करना, (२) उसके रूप-गुणोंका वर्णन करना, स्त्री-सम्बन्धी चर्चा करना या गीत गाना, शृङ्गाररसके ग्रन्थोंको पढ़ना आदि, (३) स्त्रियोंके साथ ताश, चौपड़ आदि खेलना *, (४) स्त्रीको बुरी दृष्टिसे देखना, (५) स्त्रीसे एकान्तमें बातें करना, (६) स्त्रीको प्राप्त करनेके लिये मनमें संकल्प करना, (७) स्त्रीकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना और (८) प्रत्यक्ष सहवास करना—ये आठ प्रकारके मैथुन विद्वानोंने बतलाये हैं। मोक्षकी कामनावालोंको इन आठोंसे अवश्य बचना चाहिये ।

पर-स्त्रीके साथ तो मैथुन करना सर्वथा निषिद्ध है ही, परन्तु अपनी स्त्रीके साथ भी इन आठ प्रकारके मैथुनोंसे मुमुक्षुओंको बचना चाहिये । स्त्रीके किसी प्रकारके सम्बन्धसे ही वीर्यनाश होता है । प्रत्यक्ष सहवासके अतिरिक्त अन्य प्रकारके मैथुनोंमें वीर्य स्खलित होकर अण्डकोषोंमें आ ठहरता है, जिससे धातुदौर्बल्य, स्वप्नविकार, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, यक्ष्मा आदि अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हो जाती हैं । आजकलकी सभ्यतामें तो मैथुनके और भी अनेक अनैसर्गिक उपायोंका आविष्कार हुआ है, जिनसे प्रत्यक्ष सहवासके सदृश ही भीषणताके साथ वीर्यनाश होता है और यह पापाचार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है । फल भी हाथोंहाथ मिल रहा है। मन और शरीर दुर्बल हो जाता है, गाल पिचक आते हैं, चेहरा

* बहुत-से लोग होलीके अवसरपर भौजाई, साली, सालेकी स्त्री, मित्र-पत्नी या पड़ोसिनोंके साथ फाग खेला करते हैं, इसको भी एक प्रकार का मैथुन समझना चाहिये । सब स्त्री-पुरुषोंको इस पापाचारसे अवश्य बचना चाहिये ।

पीला पड़ जाता है, स्मरणशक्ति चली जाती है, मस्तकमें चक्कर आते हैं, हृदय कमजोर हो जाता है, आँखें जलने लगती हैं, क्षुधा मारी जाती है, जी घबड़ाता है, सुखसे नींद नहीं आती और आलस्य घेरे रहता है, सारांश यह कि जीवन क्लेशोंका समुद्र बन जाता है। आयुर्वेदशास्त्रमें अर्श, पाण्डु, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, कास, स्वरभेद, मूर्च्छा, दाह, अग्निमान्द्य और वात आदि रोगोंका कारण वीर्यका अधिक नाश होना ही बतलाया है। पाश्चात्य डाक्टरोंका भी यही मत है। ऐसी अवस्थामें मनन-ध्यान तो हो ही कैसे सकते हैं? अतएव प्रत्येक मुक्तिके इच्छुक मनुष्यको चाहिये कि वह स्वयं ब्रह्मचर्यका पालन करे और अपनी सन्ततिसे करवावे। माता-पिताका कर्तव्य है कि वे गर्भाधानकालसे ही बड़ी सावधानीके साथ बालकके भावी जीवनको ब्रह्मचर्यके प्रतापसे सुखमय बनानेका उपाय करें। जब गर्भमें बालक हो तब माता पिता कभी किसी प्रकारकी गंदी बातें न करें, बुरे उपन्यास-नाटक न पढ़ें। न बुरे नाटक-सिनेमा देखें, शृङ्गारके तथा अश्लील चित्र न देखें, धर्मशास्त्रका अध्ययन करें, भक्त और धार्मिक वीरोंकी गाथाएँ सुनें और पढ़ें। गर्भकालमें माताकी जैसी चेष्टा होती है वैसी ही उसकी सन्तान बनती है। इस बातको प्राच्य और पाश्चात्य सभी विज्ञानवेत्ताओंने स्वीकार किया है। वीर नवयुवक अभिमन्युने चक्रव्यूहका भेद करना सुभद्रा जीके गर्भमें ही सीखा था, भक्तराज प्रह्लादपर भक्तिका प्रभाव गर्भकालमें ही पड़ गया था। और भी अनेक उदाहरण हैं। बच्चा पैदा होनेके बाद माता-पिता उसे अबोध समझकर कभी उसके सामने

गंदी बातें और गंदी चेष्टा न करें, सगाई-विवाह आदिकी चर्चा तक न चलावें, विद्याभ्यासके योग्य होनेपर उसे ऐसे सदाचारी सद्गुरुके समीप भेजें जहाँ ब्रह्मचर्यकी और धर्मकी शिक्षाका विशेषरूपसे प्रबन्ध हो। आजकलके स्कूल-कालेजोंकी तो बड़ी ही बुरी दशा है। सौभाग्यवश शायद ही कोई ऐसा स्कूल या कालेज होगा जहाँ बालक दुराचरण न करते हों। बड़े ही खेदका विषय है कि भारतके भावी आशास्थल, भारत-जननीके प्रिय बालकोंकी जीवनशक्ति शिक्षाके नामपर बुरी तरहसे नष्ट हो रही है। प्रथम तो पाश्चात्य शिक्षाका विषैला रोग ही बालकको अपने धर्मसे गिरा देता है, दूसरे आजकलके स्कूल-कालेजोंका विषयप्रधान बिगड़ा हुआ वातावरण उनके जीवनकी प्राय समस्त शक्तिको बिगाड़ देता है। हमारी जातिके जीवनमें यह एक बड़ा भारी घुन लग गया है। यदि इससे रक्षा न हुई तो बड़ा अनर्थ हो जानेकी आशङ्का है। मनीषियोंको शीघ्र ही सचेत होना चाहिये। कहाँ तो सब प्रकारसे इन्द्रियसंयम कर ब्रह्मप्राप्तिके लिये अरण्यवासी, त्यागी गुरुकी झोंपड़ीमें रहकर सब प्रकारकी सत्-शिक्षाओंके प्राप्त करनेका स्तुत्य आदर्श और कहाँ आज बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंमें प्राय असंयमी भाड़ेके शिक्षकोंद्वारा विषय प्रसविनी, जड़वादमें लगा देनेवाली शुष्क अविद्यारूपी विद्याका शिक्षण! जरा प्राचीन गुरुकुलोंमें जाकर रहनेवाले ब्रह्मचारी विद्यार्थियोंके पवित्र जीवनको देखिये। विद्याभ्यासके योग्य होते ही बालक उपनयनसंस्कारसे संस्कृत होकर माता-पिता और घर-बारको त्यागकर अकेला समित्पाणि होकर त्यागी और विद्वान् वनवासी गुरुके गृहमें जाता है और गुरुको

परमात्मा समझकर उसकी सब प्रकारसे सेवा करता हुआ, ब्रह्मचर्य आश्रमके कठिन नियमोंका पालन करता हुआ, श्रद्धा और भक्तिके साथ सद्विद्याका अध्ययन करता है। ब्रह्मचारीके लिये नियम हैं—

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥
नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥
वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत्॥
(मनुस्मृति २। १७५-१८१)

ब्रह्मचारी गुरुके घरमें रहकर अपने तपकी वृद्धिके लिये समस्त इन्द्रियोंको वशमें रखकर इन नियमोंका पालन करे। नित्य नहाकर, शुद्ध होकर देव, ऋषि और पितरोंका तर्पण करे, देवताओंका यथाविधि पूजन करे, वनमेंसे यज्ञके लिये लकड़ियाँ लाकर हवन करे। शहद, मांस, चन्दन, इत्र आदि पदार्थ, फूल, मालाएँ, रस,

है। कुछ विद्वानोंका कथन है कि यदि वीर अभिमन्यु और भक्त सुधन्वा युद्धक्षेत्रमें जाते समय वीर्यपात न करते तो उस समय उनकी मृत्यु न होती। अतएव सबको सावधानीके साथ वीर्यरक्षा करनी चाहिये। भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

बाल-विवाह

आजकल बालकोंके माता-पिता या अभिभावकोंकी ओरसे एक बड़ी भूल और हो रही है, वह है छोटी उम्रमें अपने बालक-बालिकाओंका विवाह कर उन्हें ब्रह्मचर्यके पवित्र पथसे गिरा देना।

हिंदू-धर्मशास्त्रके अनुसार विवाह निरा खिलवाड़ या केवल इन्द्रिय-लालसा चरितार्थ करनेका साधन नहीं है। विवाह एक पवित्र और आवश्यक संस्कार है। विवाह गृहस्थाश्रमकी बुनियाद है और गृहस्थाश्रमका उद्देश्य है स्त्री-पुरुष दोनोंका एकत्र सम्पादन कर पवित्र प्रेमसे एक सूत्रमें बँधकर धर्माचरणमें प्रवृत्त होना और यथासाध्य तीनों आश्रमवासियोंकी सेवा करके भगवत्प्राप्तिके लिये प्रस्तुत होना। गृहस्थाश्रम तभी सिद्ध होता है जब कि दम्पती काम, क्रोध, लोभसे बचे रहकर ईश्वर मानसे जगत्‌की सेवा कर और शास्त्रके मर्यादानुसार यथावश्यक समस्त व्यवहार कर देवर्षि-पितृ ऋणसे मुक्त होते हैं। शास्त्र कहता है—

'पुत्रार्थे क्रियते भार्या'

'भार्या पुत्रोत्पादनके लिये करनी चाहिये' न कि विलास-वासनाके लिये। स्त्री सहधर्मिणी है, विलासकी सामग्री नहीं। विवाह किया जाता है संयमके लिये, न कि उच्छृङ्खलताको आश्रय

देनेके लिये। आज हम इस परम सत्यको भूल गये हैं, इसीलिये तो स्वर्गके नन्दन-काननके सदृश हमारा सुखमय गृहस्थ आज नरकपुरी बन रहा है। विवाहका दायित्व और उसका असली उद्देश्य हम भूल गये हैं। विवाहकी धार्मिकताको छोड़कर आज हमने उसे केवल इन्द्रिय-सुख-साधनका ही द्वार बना लिया है। शास्त्र कहता है कि चौबीस वर्षपर्यन्त गुरुगृहमें निवास करनेके उपरान्त जब युवक विद्यावलसम्पन्न होता है, जब वह अपनी जीविका स्वयं निर्वाह करने योग्य होता है तब उसे गृहस्थाश्रमके पवित्र द्वारमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। आज हम इस महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाको भुलाकर अबोध बालक-बालिकाओंका गुड्डे-गुड़ियोंका-सा विवाह कर उनके भावी जीवनको नष्ट कर डालते हैं। जिन बच्चोंको धोती पहननेका शऊर नहीं उन्हें हम गृहस्थाश्रमके कठिन बन्धनमें बाँधते हैं। वे बेचारे अबोध बालक इसका मर्म क्या जानें? उन्हें क्या पता कि विवाहमें पति पत्नी परस्परमें क्या प्रतिज्ञा करते हैं? बालक केवल विवाहको एक आमोद मानकर खुशीमें फूले फिरते हैं, परन्तु जो बुद्धिमान् लोग ऐसे विवाहोंका परिणाम जानते हैं उन्हें अबोध बालकोंके इस आमोद-प्रमोदपूर्ण विनोदपर रुलाई आती है। हमारे युवकोंकी अवस्था तो देखिये! जवानी आनेके पहले ही बुढ़ापा आ गया है। यही स्थिति स्त्रियोंकी है, शायद ही कोई ऐसी युवती हो जो प्रदर या रजोविकारके रोगसे पीड़िता न हो! युवक और युवतियों-की मृत्यु-संख्या देखकर तो कलेजा काँपता है! कलियाँ खिलनेके पहले ही मुर्झा जाती हैं! इससे अधिक गृहस्थकी दुर्दशा और क्या

होगी ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि माता-पिताको अपने बालक बड़े प्यारे होते हैं, वे जान-बूझकर उनका अनिष्ट नहीं करते, परन्तु उनकी बुद्धिमें अज्ञान छाया हुआ है, इसीलिये वे इस प्रकारकी भूलें करते हैं। ब्रह्मचर्यके महत्त्वको भूल जाना ही इस भूलका प्रधान कारण है परन्तु यह भूल सर्वथा अक्षम्य होती है, प्रकृति हाथोंहाथ फल दे देती है। अतएव माता-पिता और अभिभावकोंको चाहिये कि वे अपनी सन्तानका विवाह योग्य वयसे पूर्व कदापि न करें। वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए विवाहके योग्य वर-कन्याकी आयु अन्तत पूर्ण अठारह और बारह वर्ष नियत की जा सकती है। मर्यादामें रहते हुए आवश्यकता और योग्यतानुसार इसकी अवधि और भी बढ़ायी जाय तो उत्तम है। धर्मशास्त्रोंकि आज्ञानुसार कन्याका विवाह रजोदर्शनसे पूर्व ही होना चाहिये। यद्यपि मनुमहाराजने योग्य वरके अभावमें रजोदर्शनके बाद तीन वर्षतक और भी प्रतीक्षा करनेकी आज्ञा दी है और यहाँतक कहा है कि कन्या आजन्म कुँआरी रह जाय तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु अयोग्य वरके साथ उसका विवाह न करना चाहिये। परन्तु यह व्यवस्था योग्य वरके अभावमें है। जो लोग अपनी कन्याका किसी लोभ या प्रमादवश कन्यासे छोटी उम्रके वरके साथ या वृद्धके साथ विवाह कर देते हैं वे बड़ा पाप करते हैं। धर्मशास्त्रका वाक्य है—

> कन्यां यच्छति वृद्धाय नीचाय धनलिप्सया।
> कुरूपाय कुशीलाय स प्रेतो जायते नरः॥

'जो मनुष्य धनके लोभसे अपनी कन्याको किसी वृद्ध, नीच, कुरूप (अङ्गहीन) और दुराचारी दुर्गुणीको ब्याह देता है, वह मरनेके

बाद प्रेत होता है।' योग्य वरके मिलनेपर रजोदर्शनके समय विवाह कर देना आवश्यक है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि रजोदर्शन सभी जगह छोटी उम्रमें नहीं होता। यदि माता पिता या अभिभावक विशेष ध्यान रक्खें तो बालिकाएँ छोटी उम्रमें रजस्वला न हों। यदि लड़कियोंके सामने सगाई-विवाहकी बात ही न की जाय, मेहनत करवायी जाय, स्त्री पुरुषोंकी कामचेष्टा देखनेका उन्हें अवसर न मिले, उत्तेजक पदार्थ खानेको न दिये जायँ, बुरी कहानियाँ सुनने और बुरी पुस्तकें पढ़नेको न मिलें, भड़कीले कपड़े और गहने भूलकर भी न पहनाये जायँ, सजावट और शृङ्गारकी भावना उत्पन्न न होने दी जाय, पुरुषोंमें अधिक आना-जाना न हो, जिस स्कूलमें लड़के पढ़ते हों उसमें पढ़नेको न भेजी जायँ और सुन्दरताका गर्व न आने दिया जाय तो सम्भव है कि कन्याएँ छोटी उम्रमें रजस्वला न हों। बहुधा धनियोंकी कन्याएँ शीघ्र रजस्वला होती हैं। इसका कारण यही है कि उन्हें भड़कीले कपड़े और गहने पहननेको मिलते हैं, काम-काज करवाया नहीं जाता, नौकर-नौकरानियोंकी बुरी सङ्गति रहती है, उत्तेजक चीजें खानेको मिलती हैं। इसके सिवा शहरोंकी अपेक्षा गाँवोंमें कन्याएँ देरसे रजस्वला होती हैं, सभ्यताका अभिमान रखनेवाली जातियोंकी अपेक्षा ग्रामीण जातियोंमें भी कन्याएँ जल्दी रजस्वला नहीं होतीं।

जो बालक या बालिकाएँ भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे आजीवन अथवा यथासाध्य अधिक कालतक ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहें उन्हें स्वतन्त्रतासे करने देना चाहिये। परन्तु यह स्मरण

रहे कि कहीं कुसङ्गतिसे उनका जीवन बीचमें ही बिगड़ न जाय। क्योंकि यह बड़ा ही टेढ़ा प्रश्न है।

गृहस्थमें ब्रह्मचर्य

कुछ लोगोंकी समझ है कि विवाहिता पत्नीके साथ चाहे जैसा व्यवहार किया जाय सब धर्मसङ्गत है। वे समझते हैं कि इसके लिये तो उन्हें परमात्माके घरसे छूट मिल गयी है। परन्तु यह उनका भ्रम है। वास्तवमें कोई किसीकी स्त्री या पुरुष नहीं, अपने-अपने कर्मवश उस जगन्नियन्ताकी इस जगत्‌रूपी नाट्यशालामें पार्ट करनेके लिये जीव कभी स्त्री पुरुषके रूपमें तो कभी माता-पुत्रके वेषमें आते हैं और यहाँका खेल समाप्त होते ही कर्मफलके अनुसार वह नटराज जिस स्थानपर जैसा नाच नाचनेके लिये उन्हें प्रेरित करता है, वहीं दूसरे स्वाँगमें उन्हें फिर आना पड़ता है। जहाँपर जैसा स्वाँग जिस सम्बन्धका मिला है वहाँपर उसीके अनुसार खेल खेलना उचित है। हमें इस जीवनमें जिस स्त्रीके साथ दम्पतिरूपमें नियुक्त होना पड़ता है यह परमात्माके आज्ञानुसार और इच्छानुसार होता है। इसीलिये यह एक धर्मबन्धन है, कामवृत्तिको चरितार्थ करनेका साधन नहीं। परमात्माकी कृपा प्राप्त करनेका वास्तविक अधिकारी वही गृहस्थ होता है जो दम्पतिके इस धर्म-सम्बन्धको समझकर इन्द्रियसंयमपूर्वक अपने जीवनके समस्त कार्य (स्टेजपर पार्ट करते हुए ऐक्टरकी भाँति) अपना कुछ भी न मानकर अनासक्तभावसे लाभ-हानिमें समचित्त होकर

भगवद्दर्पणबुद्धिसे करता है। मनुष्य इस ज्ञानका अधिकारी है, इसीलिये तो वह अन्य योनियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। कामकी उत्तेजनासे पागल होना तो पशुधर्म है। परन्तु सच पूछा जाय तो इस समय हमारी दशा पशुओंसे भी गयी बीती है। पशु अब भी बहुत-से नियमोंको पालते हैं, यदि मनुष्य हस्तक्षेप न करे तो असमय अवस्थामें पशु कभी सहवास नहीं करते। बहुत-से पशु तो सालमें एक ही बार गर्भ धारण करते हैं। गर्भाधानके बाद स्त्री-पशु कामाभिलाषी पुरुष-पशुको कभी अपने पास नहीं आने देती। पशुओंका तो यह हाल है जो हमसे बलमें बहुत बढ़े हुए हैं, इधर हम इतने इन्द्रियदास हो रहे हैं कि पशुओंकी अपेक्षा बहुत कम बलधारी होनेपर भी पशुओंसे अधिक असंयमी होकर प्रकृतिके नियमोंको बुरी तरहसे कुचलते हैं! शास्त्रमें कहा गया है—

> ब्रह्मचर्यं समाप्याय गृहधर्मं समाचरेत्।
> ऋणत्रयविमुक्त्यर्थं धर्मेणोत्पादयेत्प्रजाम्॥

'ब्रह्मचर्यके चौबीस वर्ष पूरे करनेके बाद युवावस्थामें गृहस्थधर्ममें प्रवेश कर देव, ऋषि और पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये मनुष्य धर्मविधिसे सुप्रजा उत्पन्न करे।' वास्तवमें इस प्रकारका धर्मभीरु संयमी गृहस्थ ही ओजस्वी, तेजस्वी और बलवान् हो सकता है। विवाहके समयका एक मन्त्र है। वर कन्यासे कहता है—

'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथ स: । भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः। अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमो अहम् । सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः। सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ 'पश्येम शरदः शत जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम् ।' (पार॰ कां॰ १ । १)

'हे कल्याणि ! मैं अपनी कान्ति, श्री, महिमा, ज्ञान और धर्मादिकी पूर्तिके लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ, तुम्हारी आत्मा मेरी आत्मासे कभी अलग न हो, हम दोनों एक ही साथ वृद्धावस्थाको प्राप्त हों । भग, अर्यमा और सवितादि देवताओंने तुमको मुझमें मिला दिया है, तुम घरके कार्योंको करोगी। कल्याणि ! तुम्हारे द्वारा मेरी शान्ति, श्री और कान्ति आदिका विकास होगा अतएव तुम लक्ष्मीके समान हो, तुम्हारे न होनेसे मेरी कान्ति, श्री आदि नहीं रह सकती। मैं अकेला लक्ष्मीशून्य हूँ। हे माङ्गल्ये ! तुम्हें प्राप्तकर मैं लक्ष्मीवान् हो गया । हे आयुष्मति ! मैं सामरूप हूँ तो तुम ऋक्रूपा हो, ऋक् और सामसे जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऋक्के बिना जैसे सामकी पुष्टि और सत्ता नहीं रहती, उसी प्रकार तुम्हारे बिना भी मेरी और मेरी इन्द्रियोंकी पुष्टि और सत्ता नहीं रहती। हे अर्द्धाङ्गिनि ! मैं आकाशरूप हूँ तो तुम पृथिवीरूपा हो । पृथिवी और आकाशमें जैसे ओतप्रोत सम्बन्ध है उसी प्रकार तुम्हारे साथ मेरा ओतप्रोत सम्बन्ध हुआ है । अतएव हे कल्याणि ! तुम

आत्मसमर्पण करो, हमारा विवाहबन्धन सुदृढ़ हो, हम दोनोंको रेत संयम करना पड़ेगा, फिर यथासमय देहसंयोगसे सुपुत्र उत्पादन करेंगे, उसका सुख देखेंगे। इस प्रकारकी विधिसे पुत्र उत्पादन करनेपर वे दीर्घजीवी होंगे। तुम्हारी और मेरी एकात्मता हो जानेपर हम दोनोंके तेजकी वृद्धि होगी, दोनोंका हृदय मिलकर समुन्नत होगा, हम सौ वर्ष जीवेंगे, सौ वर्ष देखेंगे और सौ वर्ष सुनेंगे।'

इससे पता लगता है कि उस समय सौ वर्षकी आयु होती थी, पर होती थी, इस शर्तसे कि 'हम दोनोंको रेत संयम करना पड़ेगा', रेत संयम न होनेसे न तो सौ वर्षकी आयु होती है और न बलिष्ठ मेधावी सन्तान ही होती है। आज रेत संयमके अभावसे हमारी और हमारी सन्तानोंकी क्या दशा है? देह केवल हड्डियोंका ढाँचा रह गया है और मन धर्माधर्मके विवेकसे शून्य है। इसका कारण यही है कि आज हम 'सन्तानार्थं च मैथुनम्' इस शास्त्रोक्तिकी बुरी तरहसे अवहेलना कर रहे हैं! महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

> ऋतावृतौ स्वदारेषु सङ्गतिर्या विधानतः।
> ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥

'ऋतुकालमें अपनी धर्मपत्नीसे शास्त्रके आदेशानुसार केवल सन्तानार्थ समागम करनेवाला पुरुष गृहस्थमें रहता हुआ भी ब्रह्मचारी है।' स्मरण रखना चाहिये केवल ऋतुकालमें ही स्त्रीके साथ सहवास करनेका विधान है, चाहे जब अनर्गल-

रूपसे नहीं। ऋतुकाल किसे कहते हैं, रजोदर्शनका चौथा दिन ही ऋतुकाल नहीं है। यदि उस दिन कोई ग्रहण, रामनवमी, कृष्णाष्टमी आदि पर्व हों तो उस दिन स्त्रीसंसर्ग निषिद्ध है। भगवान् मनु कहते हैं कि ऋतुकालमें अपनी विवाहिता पत्नीसे सहवास करना चाहिये। परन्तु 'पर्ववर्जम्' पर्व हो तो उस दिन नहीं। ऋतुकालके सम्बन्धमें मनु महाराज कहते हैं—

> ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
> चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥
> तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
> त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥
> (३।४६-४७)

'सत्पुरुषोंद्वारा निन्दित रजोदर्शनके पहले चार दिनोंसहित सोलह रात्रियाँ स्त्रियोंका स्वाभाविक ऋतुकाल कहलाता है। इन सोलहमेंसे पहली चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि स्त्री-सहवासके लिये निन्दित हैं। बाकी दस रात्रियाँ उत्तम समझी जाती हैं।'

इन दस रात्रियोंमेंसे प्रतिपदा, षष्ठी, अष्टमी, एकादशी, द्वादशी, चतुर्दशी और पूर्णिमादि तिथियाँ तथा व्यतिपात, ग्रहण, रामनवमी, शिवरात्रि, जन्माष्टमी, श्राद्धदिवस, संक्रान्ति और रविवार आदि दिनोंको बाद देकर जो तिथियाँ उन दस तिथियोंमेंसे बचें उनमें सन्तानके हेतुसे या स्त्रीकी इच्छासे महीनेभरमें केवल दो बार जो स्त्रीसङ्गम करता है वह गृहस्थमें रहता हुआ भी ब्रह्मचारी माना गया है। मनु महाराज कहते हैं—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥
(३।५०)

'पहली निन्दित छ रात्रियाँ तथा दूसरी और आठ रात्रियाँ कुल चौदह रात्रियोंको छोड़कर जो पुरुष (महीनेमें) केवल दो रात्रि स्त्रीके प्रति गमन करता है तो वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है।'

रजस्वलाके साथ कभी संसर्ग न करे, इससे अनेक प्रकारकी बीमारियाँ होती हैं। इसके सिवा आश्लेषा, मघा, मूल, कृत्तिका, ज्येष्ठा, रेवती, उत्तराभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी और उत्तराषाढा नक्षत्रोंमें भी स्त्री-सहवास निषिद्ध है। मन्दिरमें, रास्तेमें, श्मशानमें, औषधालयमें, ब्राह्मणके घरमें, गुरुके घरमें, सबेरे, सन्ध्याको, अपवित्र अवस्थामें, दवा लेनेके बाद, बिल्कुल भूखे, खानेके बाद तुरंत, मित्रके और गुरुजनोंके बिछौनोंपर, मल-मूत्र-त्यागकी हाजतमें, दुःखी मनसे, आवेगमें, क्रोधमें, व्यायाम करके थकावटमें, उपवासके दिन और दूसरे लोगोंके सामने कभी स्त्री-सहवास नहीं करना चाहिये। स्त्री-सहवासके सम्बन्धमें ग्रीसके महात्मा साक्रेटीजसे उनके एक शिष्यकी इस प्रकार बातें हुई थीं—

शिष्यने पूछा—मनुष्यको स्त्रीप्रसंग कितनी बार करना चाहिये ?

साक्रेटीज—जीवनमें केवल एक बार।

शिष्य—यदि इससे तृप्ति न हो तो ?

साक्रेटीज—तो वर्षमें एक बार कर सकता है।

शिष्य—इतनेसे भी मन न माने तो?

साक्रेटीज—महीनेमें एक बार करे।

शिष्य—फिर भी न रहा जाय तो?

साक्रेटीज—खैर, महीनेमें दो बार करे, परन्तु ऐसा करनेवालेकी मृत्यु जल्दी होगी।

शिष्य—यदि इतनेपर भी इच्छा बनी रहे तो?

साक्रेटीज—पहले कफन मँगाकर घरमें रख ले फिर चाहे जैसे किया करे।

उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध हो गया कि स्त्री-सहवास जितना कम किया जाय उतना ही श्रेष्ठ है और उतना ही मनुष्यकी पारमार्थिक उन्नतिके लिये उपयोगी है।

जो स्त्री पुरुष अपनी इच्छासे सर्वथा ब्रह्मचारी होकर रहना चाहें उन्हें अवश्य ऐसा करना चाहिये। कुछ लोग कृत्रिम और अनैसर्गिक साधनोंसे सन्तानोत्पादन बंद करना चाहते हैं, ऐसा करना पाप है। अधिक सन्तान न उत्पन्न करनेका सबसे सुन्दर और धर्मयुक्त उपाय दम्पतीका स्वेच्छासे ब्रह्मचर्यका नियम लेना है। इससे लोक-परलोक दोनों सुधर सकते हैं।

अब संक्षेपमें सूत्ररूपसे ब्रह्मचर्यरक्षाके कुछ सामाजिक और व्यक्तिगत नियम बतलाये जाते हैं, जिनका मनन करना चाहिये और यथासाध्य उन्हें काममें लानेकी चेष्टा भी करनी चाहिये।

ब्रह्मचर्यरक्षाके उपाय

(१) बालविवाहका सर्वथा त्याग। कम-से-कम अठारह वर्षसे पहले लड़केका और बारह वर्षसे पहले लड़कीका विवाह भूलकर भी नहीं करना चाहिये।

(२) वृद्धविवाह कभी न होने देना चाहिये।

(३) ब्रह्मचर्याश्रमोंकी स्थापना करनी चाहिये। जिनमें बालकोंके ब्रह्मचर्यकी रक्षाका बड़ा कड़ा प्रबन्ध होनेके साथ ही उन्हें धर्ममूलक ब्रह्मचर्यकी शिक्षा भी दी जाय। कम-से-कम अठारह सालकी उम्रतक बालकोंका उसमें रहना अनिवार्य हो।

(४) लड़के-लड़कियोंकी सगाई बहुत पहले न की जाय।

(५) बालक-बालिकाओंको भड़कीले कपड़े और गहने बिल्कुल ही न पहनाये जायँ।

(६) शृङ्गार-रसके संस्कृत या हिन्दीके काव्य या नाटक-उपन्यासादि ग्रन्थोंका प्रचार यथासाध्य रोका जाय। कम-से-कम छोटी उम्रके बालक-बालिकाओंके हाथमें ऐसी पुस्तकें कभी न दी जायँ और न विद्यार्थियोंको साहित्यकी दृष्टिसे ही ऐसे ग्रन्थ पढ़ाये जायँ।

(७) शृङ्गार-रसप्रधान नाटक-सिनेमा कभी न देखे जायँ, कम-से-कम बालक-बालिकाओंको कभी न दिखलाये जायँ।

(८) उत्तेजक पदार्थ न खाये जायँ। मिर्च, राई, गरम मसाले, अचार, खटाई, अधिक मीठा और अधिक गरम चीजें न

खायी जायँ। भोजन खूब चबाके किया जाय, भोजन स
सादा, ताजा और नियमित समयपर किया जाय।
मांस-मद्यका सर्वथा परित्याग कर दे, किसी भी मादक
(नशीली) वस्तुका सेवन न किया जाय।

(९) यथासाध्य नित्य खुली हवामें प्रतिदिन सबेरे और सन्ध्याके
पैदल घूमा जाय।

(१०) रातको जल्दी सोया जाय और प्रात:काल ब्राह्ममुहूर्तमें य
सूर्योदयसे कम-से-कम एक घण्टे पहले अवश्य उठा जाय।
सोते समय पेशाब करके सोवें। स्त्री और पुरुष एक पलंग-
पर या एक साथ कभी न सोवें। रातको भगवान्‌का
चिन्तन करते हुए नींद लें और सबेरे जागते ही फिर
भगवान्‌का चिन्तन करें।

(११) कुसंगति सर्वथा त्याग दी जाय। स्त्री-सम्बन्धी चर्चा कभी न
की जाय। इस प्रकार स्त्री भी पुरुष-चिन्तनका त्याग करे।

(१२) दम्पती (विवाहित स्त्री-पुरुष) को छोड़कर अकेलेमें दूसरे
दूसरे स्त्री पुरुष कभी न बैठें और न एकान्तमें बातचीत करें।

(१३) स्त्रियोंकी ओर कभी न देखे, यदि दृष्टि जाय तो तुरंत
मातृभाव कर ले या परमात्मभाव कर ले। इसी प्रकार
स्त्रियाँ भी पुरुषोंकी ओर न देखें, यदि दृष्टि जाय तो
पिताभाव या परमात्मभाव कर लें।

(१४) नित्य सत्संग किया जाय। सद्ग्रन्थोंका अध्ययन किया
जाय। रामायण, महाभारत, उपनिषदादि ग्रन्थोंके सुन्दर

सुन्दर मार्गोंका नित्य स्वाध्याय हो श्रीमद्भगवद्गीताका नित्य अर्थसहित पाठ किया जाय ।

(१५) शौकीनी सर्वथा त्याग दी जाय । यह स्मरण रखना चाहिये कि सजधज और शृंगारसे कामवासना जाग्रत् होती है । शृंगार वास्तवमें किया ही जाता है इसलिये कि मैं दूसरोंको सुन्दर दिखलायी दूँ । शृंगार करनेवाला स्वयं डूबता है और दूसरोंको डुबोता है ।

(१६) इत्र-फुलेल कभी न लगाया जाय, फैशनसे न रहे, चटक-मटक छोड़ दी जाय, बाल न रक्खे जायँ, बार-बार दर्पणमें मुँह न देखा जाय, होठोंको लाल करनेके लिये पान न खाया जाय, आसव आदिका सेवन न किया जाय, उत्तेजक ओषधियोंका सेवन न किया जाय ।

(१७) मूत्रत्याग और मलत्यागके बाद इन्द्रियोंको शीतल जलसे धो डाले । मल-मूत्रकी हाजत न रोके ।

(१८) यथासाध्य ठंढे जलसे नित्य स्नान किया करे ।

(१९) नियमित व्यायाम करे, हो सके तो नित्य कुछ आसन और प्राणायामका अभ्यास भी किया करे ।

(२०) कौपीन या लंगोटा अवश्य रक्खा जाय ।

(२१) भगवान्‌की मूर्तिका प्रेमपूर्वक दर्शन करे, सच्चे साधुओं और महापुरुषोंकी मन लगाकर सेवा करे ।

(२२) प्रतिदिन नियमितरूपसे थोड़े समयतक परमात्माका ध्यान अवश्य करे ।

(२३) किसी व्यभिचारीकी चर्चा न करे, न सुने और न ऐसे लोगोंके पास ही बैठे ।

(२४) निरन्तर भगवन्नामका जप करे, श्वाससे कर सके तो बहुत ही उत्तम हो, कामवासना जाग्रत् हो तो रामायणका पाठ करे या नामजपकी धुन लगा दे । जोर-जोरसे कीर्तन करने लगे । कामवासना नामजप और कीर्तनके सामने कभी नहीं ठहर सकती । यह कई बार अनुभव किया हुआ सिद्ध प्रयोग है ।

(२५) जगत्में वैराग्यकी भावना करे, जगत्की अनित्यताका मनन करे ।

(२६) स्त्रीके रूपमें पुरुष और पुरुषके रूपमें स्त्री एक-दूसरेके शरीरमें दोष देखना सीखे । यह सोचे कि चमड़ेसे लपेटे हुए शरीरमें मांस, रक्त, कफ, विष्ठा, मूत्र, हड्डियाँ आदि सभी अपवित्र पदार्थ हैं इस विचारसे परस्पर रमणीयताका भाव हरे ।

(२७) महीनेमें कम से-कम दो एकादशीके (सम्भव हो तो निर्जल) उपवास किये जायँ ।

(२८) महापुरुषों और वीर ब्रह्मचारियोंके चरित्रोंका मनन करे ।

(२९) यथासाध्य सबमें परमात्माकी भावना करे ।

(३०) अपने चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिको सदा ध्यानमें रक्खे ।

ॐ

आचार्यके सदुपदेश

खण्ड—परिच्छिन्नके पीछे पड़कर अखण्ड—अपरिच्छिन्नको भूल जाना अनुचित है और अपने हाथों अपना नाश करना है।

अपने अंदर सच्चिदानन्द है, पर उसे भोग नहीं सकते, इसीका नाम नपुंसकता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन ! तुम क्लीव अर्थात् नपुंसक मत बनो!'

इस संसारमें हम उस यात्रीकी तरह हैं, जो हरिद्वार या किसी और स्थानको जाता हुआ मार्गमें किसी अन्य स्थानपर, केवल इस अभिप्रायसे उतर जाता है कि चलो जरा इसे भी देख लें, परन्तु यहाँ वह उसपर इतना लट्टू हो जाता है कि अपने लक्ष्य-स्थानको ही भूल जाता है और सदा यहीं रहने लग जाता है।

जो दब जाता है, संसार उसे ही दबाता है। जो नहीं दबता तथा स्वयं संसारको दबाया चाहता है, संसार उससे निश्चय ही दब जाता है।

संसारसे भयभीत न रहकर, उसे अपने शासनमें रखना चाहिये। जो ऐसा नहीं कर सकते, वे दुर्बल हृदयके व्यक्ति होते हैं।

बड़े और छोटे आदमियोंमें यही भेद है कि छोटे आदमी किसी बातपर दृढ़ नहीं रहते और बड़े जो कुछ कहते हैं—जिस कामको हाथ लगाते हैं—उसपर पूरी तरहसे दृढ़ रहते हैं। कहा भी है—

प्रारम्भ ही नहिं विघ्न-भयतें अधम जन उद्यम तजैं।
जे करहि ते कोउ विघ्नसों डरि मध्य ही मध्यम तजैं॥
धरि लात विघ्न अनेककी निरभय न उद्यमतें टरैं।
जो पुरुष उत्तम अन्तमें ते सिद्ध सब कारज करैं॥

जो आदमी संसारमें चट्टानकी तरह दृढ़ रहता है, वही उत्तम है और जो दृढ़ नहीं रहता, वही नीच है।

दुर्बल हृदयके क्षुद्र पुरुष संसारके छोटे-छोटे सुखोंके पीछे पड़कर, बड़े सुख (सच्चिदानन्द) को भूल जाते हैं।

सद्गुरु, शिष्यका अज्ञानान्धकार दूर करके उसे ज्ञानवान् बनाता है, उसके चित्तकी अशान्ति मिटाकर उसे शान्तिस्वरूप बनाता है, उसके तमाम दुःख दूर करके उसे परम सुखी बनाता है और नीचेसे उठाकर, उसे ऊपर पहुँचाता है।

इस शरीररूपी नौकाके टूटनेसे पहले ही पार होनेका प्रयत्न करना चाहिये। उसके बाद क्या होगा, कहाँ जन्म होगा, इसका कुछ भी ठिकाना नहीं है।

माया-शक्तिको अपने बलसे नहीं, प्रत्युत परमात्माके बलसे मारा जा सकता है, इसलिये परमात्माका आश्रय ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है।

क्षत्रियका कर्तव्य है कि यदि वह किसीकी रक्षा नहीं कर

सकता, किसीको सहारा नहीं दे सकता, तो कम-से-कम स्वयं तो किसीके ऊपर अपना बोझ न डाले और अपना निर्वाह तथा रक्षण तो स्वयं करे।

किसी कार्यमें न आसक्ति है और न किसीमें द्वेष है—मनुष्योंमें जब यह गुण आ जाता है तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

जो अपने अनुभव और आचरणसे करके नहीं दिखाता, उसके उपदेशोंसे कुछ भी नहीं बन सकता और वह सदा अपना तथा दूसरोंका अमूल्य समय ही नष्ट करता है।

परमात्मा सबके अंदर है। फिर एक कुमार्गमें जाता है, दूसरा सुमार्गमें, इसका क्या कारण है? कारण यही है कि सुमार्गमें जानेवाला अपना सब कुछ भगवान्‌को सौंप देता है और कुमार्गमें जानेवाला अपनी इन्द्रियोंको।

कई लोग सद्गुरुको पारसकी उपमा देते हैं, पर वास्तवमें वह पारससे भी बढ़कर है, क्योंकि पारस तो लोहेको छूकर सोना ही बनाता है, अपने समान पारस तो नहीं बनाता, परन्तु सद्गुरु अपने शरणागत शिष्यका तमाम अज्ञान-मोह दूर करके उसे अपने समान बना देता है।

जो औरोंको मान देता है, उसे इस लोक और परलोक दोनोंमें मान मिलता है।

जो पलमें प्रसन्न और पलमें अप्रसन्न हो जाता है, उससे सदा दूर ही अलग रहता है।

जो बनानेवाला है, रखनेवाला है, हम उसे ही क्यों न प्रसन्न करें। संसारमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो उसकी दयासे न मिल सकती। वह कौन है? सर्वशक्तिमान् परमात्मा! अत परमात्माकी ही पूजा करना योग्य है।

एक ओर संसार है और दूसरी ओर परमात्मा। जीव यदि संसारकी ओर लग गया, उसमें लिप्त हो गया, तो दु खोंमें—घोर दु खोंमें—फँस गया और यदि परमात्माकी ओर लग गया—उसके चरणोंमें लीन हो गया, तो सच्चिदानन्दमय बन गया और उसके सारे दु ख-दारिद्र्य सदाके लिये दूर हो गये।

किसी बातको छिपाना हो तो उसे 'असत्यसे मत छिपाओ, मौनसे छिपाओ', यह भगवान्‌का कथन है।

जब सत्य बोलनेमें हानि दीखे तो असत्य तो कदापि न बोले, क्योंकि यह तो पाप है। हाँ, उस दशामें चुप रहना श्रेयस्कर है।

परिवार-पालनके लिये व्यापार आवश्यक है, पर वह धर्मविरुद्ध कदापि नहीं होना चाहिये।

इच्छा हो, वह भी धर्मके विरुद्ध न हो और उसकी पूर्तिके जो उपाय हों, वे भी धर्मके विरुद्ध नहीं होने चाहिये।

हमारे देशके कई भागोंमें—विशेषत स्त्रियोंमें जो रोने-पीटनेका रिवाज है, वह धर्मके विरुद्ध है।

हम और किसीको कुछ न कहकर केवल उन्हें, जो धर्मशास्त्र और वेदान्तके सिद्धान्तोंको मानते हैं, कहते हैं कि किसीके मरनेपर रोना-पीटना धर्म और वेदान्तके विरुद्ध है, पाप है।

जो कर्म अपने नहीं हैं और जो आवश्यक भी नहीं हैं, उन्हें यदि हम छोड़ नहीं देते तो वे हमारे श्रेयके मार्गमें रुकावट डालते हैं।

अपने साधनमें लगो, दूसरोंकी निन्दामें जरा-सा भी समय व्यर्थ कभी न गँवाओ। समय बड़ा मूल्यवान् है।

जब ऐसी भक्ति, जिसमें सन्देहकी मात्रा तनिक भी न हो, प्राप्त हो जाती है, तब ज्ञानकी प्राप्तिमें कुछ भी देर नहीं रहती। भगवान् अपने भक्तको कभी अज्ञानी नहीं रहने देते।

जैसे सत्त्व, रज और तम, मिले हुए ही रहते है, पर जिसकी मात्रा अधिक होती है, वही प्रधानरूपसे माना जाता है, वैसे ही कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्ड भी मिले रहते हैं और जो जिसमें अधिक होता है, वही प्रसिद्ध होता है।

वेदान्तमें कहा है कि न तो जीनेकी इच्छा करो और न मरनेकी ही। प्रारब्धसे आये हुए दुःख-सुखको समानरूपसे भोगते हुए, सदैव आनन्दमें रहो और ऐसे नये काम मत करो, जिनसे फिर योनिचक्रमें फँसना पड़े।

कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये धर्मशास्त्रको देखना चाहिये और यदि खुद न देख सकें तो विद्वान् और राग-द्वेषसे रहित किसी धर्मशास्त्रीसे पूछ लेना चाहिये।

जो शक्ति चाहते हैं, उन्नति चाहते हैं तथा कल्याण चाहते हैं, उन्हें धर्मशास्त्र आज्ञा देता है कि वे स्त्रियोंको न ठगें, न दुःख दें, न उनकी निन्दा करें और न उन्हें कभी मारें। भगवान् रामने गुरुके

आदेशानुसार जगत्के कल्याणके लिये भी जब ताड़का नामी एक राक्षसीको मारा था तो उसका प्रायश्चित्त किया था।

जीवन्मुक्त उसे कहते हैं जिसके हृदयमें पूर्ण शान्ति आ जाती है, आनन्दका भण्डार खुल जाता है तथा जिसका चित्त सदा परमात्माके चरणोंमें लगा रहता है।

संसार एक रङ्गभूमि है। जैसे रङ्गभूमिपर, नाटकके पात्र अपना वेष बदलकर आते हैं, वैसे ही इस संसारमें भी जीव वेष बदल-बदलकर आते हैं।

ज्ञानी प्रत्येक बातको यथार्थ न समझकर भोगता है और अज्ञानी यथार्थ समझकर भोगता है। बस, इसीलिये तो ज्ञानीको कोई दुःख नहीं व्यापता और अज्ञानीको व्यापता है।

तुम हृदयको बिल्कुल खाली कर दो, उसमें कुछ भी न रहने दो, तब उसमें भगवान् वास करेंगे और जो कुछ भी तुम्हारे मुँहसे निकलेगा, वही भगवान्की ओरसे निकलेगा। इस प्रसङ्गमें राधा और बाँसुरीके एक संवादकी कथा याद आती है। एक बार राधाने बाँसुरीसे पूछा—"बाँसुरी, तूने पूर्व-जन्ममें ऐसे कौन-से सुकर्म किये थे, जो आज तू भगवान्को इतनी प्यारी हो रही है कि वह सदा तुझे अपने होठोंपर ही लगाये रहते हैं और तू उनका अधरामृत पान किया करती है!" बाँसुरी बोली—'राधे! पूर्व-जन्मकी बात तो मुझे कुछ याद नहीं। यहाँ-तक कि मैं यह भी नहीं जानती कि पूर्वकालमें मेरा कोई जन्म था या नहीं। पर हाँ, अब यह पता है कि मैं बाँसकी एक पोली हूँ। तू मेरे भीतर देख तो सही कि इसमें क्या है?" राधाने बाँसुरीके भीतर

दृष्टि डालकर कहा कि, 'भीतर तो कुछ नहीं है।' बाँसुरी बोली--'बस, मेरे भीतर कुछ नहीं है तो तू समझ ले कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, मेरे अंदरसे जो विविध राग-रागिनियाँ निकलती हैं, वह वास्तवमें भगवान्‌के ही अधरसे निकलती हैं।' यह सुनकर राधा प्रसन्न हो गयी।

हृदयके मैलको हम किस प्रकार दूर कर सकते हैं? भगवान्‌की शरणमें जाकर, अन्य किसी प्रकारसे नहीं।

अहंकारकी बात रबड़के उस गोलेके समान है, जिसे छोटे-छोटे बच्चे अपने मुँहसे फुलाते हैं। ज्यों-ज्यों गोलेको फुलाते जाते हैं त्यों-ही-त्यों गोला फटनेकी दशाके समीप पहुँचता जाता है। इसी प्रकार मनुष्य भी ज्यों-ज्यों अपने अहंकारको बढ़ाता जाता है त्यों-ही-त्यों वह सर्वनाशके समीप पहुँचता जाता है।

जो श्रद्धा और भक्तिसे भगवान्‌का आँचल पकड़ता है, भगवान् उसका सारा भार अपने कन्धेपर उठा लेते हैं और उसे तनिक भी कष्ट नहीं होने देते।

जबतक हृदयमें विकार है, विषाद है, भय है और अविश्वास है, तबतक श्रद्धा और भक्ति दृढ़ नहीं हो सकती।

संस्कृतमें स्त्रीका नाम अबला प्रसिद्ध है, पर वह अबला है जितेन्द्रिय पुरुषके आगे, विषयासक्तके आगे नहीं। विषयासक्तोंके लिये तो वह महा सबला है।

जब किसी वस्तुकी इच्छा न हो तब जीवनकी भी इच्छा नहीं रहती।

प्रारब्धसे शरीर अपने-आप छूट जानेवाला है, यह समझकर जो सदा प्रसन्नचित्तसे मृत्युकी राह देखता है, उसे ही ज्ञानी कहते हैं।

इन्द्रियोंको और मनको किसी प्रकारकी रिश्वत देनेसे काम नहीं चल सकता। जैसे अग्निको घृत देनेसे यह और भी अधिकाधिक प्रज्वलित होती है वैसे ही ये इन्द्रियाँ भी जितनी अधिक उत्तेजना पाती हैं, उतनी ही अधिक विषयासक्त होती हैं, तृप्त कदापि नहीं होतीं। यदि हम दूसरा जन्म नहीं लेना चाहते हैं और दुःखोंसे छुटकारा पाना चाहते हैं, तो उन्हें मार ही देना होगा। पर साथ ही यह भी कभी न भूलना चाहिये कि इनको मारना कोई साधारण बात नहीं है। बड़ी कठिन तपस्याका काम है।

धर्म और अधर्म दोनोंका ही स्वरूप जानना चाहिये, पर धर्म करना चाहिये, अधर्म नहीं।

करनेयोग्य कार्यके न करनेसे और न करनेयोग्य कार्यके करनेसे, तथा इन्द्रियोंका दमन न करनेसे, मनुष्य पतित हो जाता है। यह भगवान् मनुका कथन है।

शरणागतकी रक्षा करना क्षत्रियोंका कर्तव्य है।

भीतरका जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह तत्कालके लिये दब तो सकता है पर नष्ट नहीं हो सकता।

किसीको भस्म करनेके लिये, किसीको मारनेके लिये भीतरसे जो क्रोधाग्नि निकलती है, उसमें भी साधारण अग्निके-से ही गुण होते हैं। जैसे साधारण अग्नि जहाँ पैदा होती है, पहले वह उसी स्थानको जलाती है वैसे ही क्रोधाग्नि भी, जिसके हृदयमें पैदा होती है, पहले

उसीके हृदयको जलाती और उसीको भस्म करती है।

मन स्थिर नहीं, बुद्धि स्थिर नहीं और इन्द्रियाँ भी स्थिर नहीं। स्थिर तो केवल एक आत्मा है। यह कभी न भूलना चाहिये।

अविद्या, कामना और कर्म—इन तीनोंके ही कारण जीव देह धारण करता है।

गुरुसे श्रद्धा, भक्ति और नम्रताके द्वारा ज्ञान-लाभ करता जाय, यह शिष्यका काम है।

हम क्या चाहते हैं? ईश्वरका साक्षात्कार! क्यों? आत्मिक शान्तिके लिये। आत्मिक शान्ति क्यों चाहते हैं? दुःखोंसे छूटनेके लिये।

अपने लिये तो कुछ न करे पर संसारके कल्याणार्थ सब कुछ करे, यही साधु-संन्यासीका लक्षण है।

साधु-संन्यासी और त्यागीका यह लक्षण नहीं कि कोई किसीपर अन्याय और अत्याचार करे और वह कायरोंकी तरह चुपचाप बैठा सब देखता-सुनता रहे।

गुरुकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। जहाँ उल्लङ्घन किया कि गुरु-शिष्यका सम्बन्ध-विच्छेद हुआ।

गुरुके लिये शिष्यके मनमें नम्रता, वाणीमें जिज्ञासा और शरीरमें सेवाका भाव होना चाहिये।

हम गुरुकी सेवा खूब कर रहे हैं, जब यह भाव मनमें आ जाता है तो एक तो हिसाबकी बात मनमें आ जाती है और दूसरे चित्तमें अहंकार भी पैदा हो जाता है।

दूसरोंकी सच्ची प्रशंसासे अपने गुणोंका और दूसरोंकी निन्दासे अपने अवगुणोंका विकास होता है।

जो निर्बल होता है, उसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये मन, वाणी और शरीर—इन तीनोंको ही बलिष्ठ बनानेकी जरूरत है।

अपनेको बड़ा समझकर, किसीकी निन्दा न करे, निन्दा करना घोर पाप है।

अहंकार एक ऐसी वस्तु है, जो हमारे भीतर घुसकर भी हमें अपना पता नहीं देता। अर्थात् अहंकार भीतर डेरा जमाये रहता है, पर हम अपनेको अहंकारी नहीं समझते।

सबसे बड़ा अहंकार यह है कि अपने आपको अहंकारी न समझना और यह कहना कि अमुक व्यक्ति तो अहंकारी है और हम अहंकारी नहीं हैं।

किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, अपनी बड़ाई नहीं करनी चाहिये और अहंकार भी नहीं करना चाहिये। यह सब तो ठीक है, पर इसके साथ ही हम ये काम नहीं कर रहे हैं, यह न समझना भी बहुत जरूरी है।

अमुक व्यक्ति परनिन्दा कर रहा है, यह कहना या समझना भी परनिन्दा ही है।

वचन कैसा होना चाहिये? जो दूसरोंके लिये दुःखदायी न हो, प्रशंसात्मक हो, सत्य हो तथा दूसरोंका कल्याण करनेवाला हो।

पहले अपनी खराबियाँ दूर करो, फिर दूसरोंके लिये कुछ करनेका अधिकार प्राप्त होगा।

अपनेसे जो कुछ सेवा बन पड़े, करते जाओ। दूसरोंसे यह कहनेकी जरूरत नहीं कि तुम कुछ नहीं कर रहे हो और हम सब कुछ कर रहे हैं।

बड़े आदमी अगर कोई बड़ा काम करते हैं तो प्राय छोटे आदमी फौरन कह दिया करते हैं कि अमुक सज्जन बहुत बड़े हैं, इसलिये उनसे ऐसा बड़ा काम बन पड़ा है, लेकिन हमसे वैसा नहीं हो सकता, क्योंकि हम बहुत छोटे आदमी हैं, पर बड़े जब कोई छोटा काम कर बैठते हैं तो छोटे फौरन ही उनकी नकल करने दौड़ पड़ते हैं। तब तो नहीं कहते कि यह भी उन्हींके योग्य है।

जो किसीको अपने कन्धेपर चढ़ाकर पार कर देता है, उससे हजार गुना अच्छा वह है, जो उसे स्वयं ही पार होना सिखा देता है।

गुरुकी सेवाका खयाल शिष्य करे और शिष्यके कल्याणका गुरु करे।

शरणागत चार प्रकारके होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इसी प्रकार शिष्य, जिज्ञासु, ज्ञानी और गुरु भी चार प्रकारके कहे हैं।

जबतक इच्छा है तबतक दु ख जरूर है। इच्छा छूट गयी तो दु ख भी छूट गया।

शिष्यके अधिकारको जानकर गुरुका कर्तव्य है कि उसे योग्य श्रेणीमें ले जाकर आगे बढ़ावे।

जिसमें कोइ वासना नहीं रहती, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

आत्माका स्वभाव आनन्द है, दु:ख नहीं।

चिन्ता चितासे भी बढ़कर है। चिता तो मरे हुएको जलाती है, सो भी बाहरकी अग्निकी सहायतासे, पर चिन्ता जीवितको ही भस्म कर डालती है, वह भी किसी बाहरी अग्निकी सहायताके बिना ही।

जिनका हृदय दर्पणकी तरह निर्मल हो जाता है, वे जब गुरुके सम्मुख जाकर बैठते हैं तो उनके भीतर अपने-आप ही समस्त ज्ञान प्रकट हो जाता है और वे अनायास ही तर जाते हैं।

मनका स्वभाव भी बन्दरके समान है। जैसे बन्दर एक वृक्षसे दूसरेपर और दूसरेसे तीसरेपर कूदता रहता है, इसी प्रकार मनरूपी बन्दर भी इधर-उधर भटकता ही फिरता है। साधारण बन्दर तो ऐसे वृक्षोंपर बैठता और खेलता है, जो फल, फूल और आराम देनेवाले होते हैं, लेकिन यह मनरूपी बन्दर तो सदा विषयरूपी काँटेदार वृक्षों-पर ही खेलता है, जो कभी सुखदायक नहीं, बल्कि घोर दु:खदायक होते हैं, अतएव मनरूपी बन्दरको भगवान्‌की अविचल भक्तिरूपी डोरीसे बाँधकर, भगवान्‌के चरणोंमें लगाये रखना ही श्रेयस्कर है, इसीमें कल्याण है।

चार पाँव और एक पूँछवाले जानवरोंको ही पशु नहीं कहते, बल्कि उस दो हाथ और दो पाँववाले मनुष्यनामधारी जीवको भी पशु ही कहते हैं, जो अज्ञानके भीषण पाशमें बँधा रहता है।

ज्ञानसे पूर्व-जन्मोंके कर्मोंका नाश होकर पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है और हृदयमें सच्चिदानन्दका साक्षात्म्य स्थापित होता है।

पैसा पास न हो, पर होनेका लोगोंको सन्देह हो, तो भी चोर-डाकू आकर कष्ट देते हैं और यहाँतक कि कभी-कभी तो जानसे भी मार डालते हैं। परन्तु कई बार ऐसा भी देखा और सुना गया है कि अपने पास न तो पैसा है और न किसीको इसका सन्देह ही है, पर अपने पास किसी ऐसे सज्जनके आ जानेसे, जिसके पास पैसा है, या लोगोंको उसके पास पैसा होनेका सन्देह है, भारी कष्ट उठाना पड़ता है, यहाँतक कि मृत्युतक हो जाती है। इस सम्बन्धमें हमें अपने एक गुरुभाईकी कथा—महान् दुःखद कथा—याद आती है। उसे संक्षेपसे यहाँ सुना देते हैं—

हमारे गुरुभाई बड़े ही योग्य पुरुष थे। वह कानपुरके पास एक बंगलेमें रहते थे। कानपुरके एक धनाढ्य मारवाड़ीकी इच्छा हमारे गुरु-भाईके दर्शनकी हुई। वह सपत्नीक वहाँ गया और उनसे मिला। बातें करते-करते जब काफी रात बीत गयी तो वह हमारे गुरुभाईके पाससे उठकर पत्नीसहित पासकी एक कोठरीमें चला गया। इतनेमें कुछ डाकू, जो कानपुरसे ही सेठजीके पीछे लगे हुए थे, सेठजीके पास आ धमके और लगे मालमत्ता माँगने, पर उनके पास वहाँ था ही क्या जो वह डाकुओंको देते। जब कुछ प्राप्त न हुआ तो वह सेठजी और उनकी स्त्रीको बुरी तरह मारने-पीटने लगे। रोना सुनकर हमारे गुरुभाई भी वहाँ पहुँच गये। उन्होंने देखा कि पन्नालाल नामक एक अपना देखा हुआ आदमी भी उन डाकुओंमें शामिल है। उन्होंने कहा—'पन्नालाल! तुम भी ऐसा काम किया करते हो?' बस, डाकू यह विचारकर कि 'यह साधु तो सवेरे हमें जरूर पकड़वा देगा, क्योंकि हमारे एक साथीको

जानता है—मारवाड़ी दम्पतिको छोड़कर जो कि उस समय बरामदेमें हो चुके थे, स्वामीजीपर टूट पड़े और उन्होंने उनका काम तमाम कर दिया। डाकुओंने हमारे गुरुभाईको मारकर ही नहीं छोड़ा, बल्कि उनकी असातलको अपना कर लिया। जब प्रात:काल हुआ तो कानपुरमें हाहाकार मच गया। पुलिसने तहकीकात आरम्भ की, पर कुछ पता नहीं चला। यह तो है पैसेवालेके संगका फल। पैसेका संग तो और भी बुरा है।

संसारमें बड़ी मुसीबत यह है कि जिस दु:खको दूर करनेके लिये हम किसी साधनका उपयोग करते हैं, वही साधन आगे चलकर हमारे लिये दु:खका कारण बन जाता है, जैसे ऋण आदि।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि एक कर्मसे दूसरे कर्मका नाश कभी नहीं हो सकता। कर्मोंका नाश ज्ञानाग्निसे होता है।

जो लोग यह समझते हैं कि हमारे पुण्य हमारे पापोंका नाश कर देंगे, वे भूलते हैं। पापका फल भी जरूर भोगना पड़ता है और पुण्यका भी। पुण्यसे पापका नाश नहीं होता और पापसे पुण्यका नाश नहीं होता।

ये दस इन्द्रियाँ दस दिशाओंकी ओर जानेवाले दस घोड़े हैं। जिस ओर एक जाता है, दूसरा उस ओर नहीं जाता—इन दस इन्द्रियोंने हमपर अपना अधिकार जमा रक्खा है, हमें अपने बन्धनमें बाँध रक्खा है। हम इनका इस प्रकारसे दमन या नाश करें, जिससे इनका द्वारा प्रभुत्व ही नष्ट हो जाय और ये स्वयं सर्वथा हमारे अधीन हो जायँ।

गुरुका काम शिष्यको अपने सदृश बना लेना है ।

छोटी चीजको बड़ी समझकर उससे डर जाय, यह भी बेवकूफी है, और बड़ी चीजको छोटी समझकर उसके लिये अनुचित साहस करे, यह भी ठीक नहीं है ।

भगवान् आत्मरूप और परमात्मरूप दोनों हैं ।

जिसे खानेको भी ठिकाना नहीं है, जो भीख माँगकर खाता है, जिसके पास ओढ़नेको कपड़ा और रहनेको स्थान भी नहीं है, विषय उसे भी आ दबाता है और व्याकुल कर देता है । विषयने विश्वामित्र-जैसे तपोनिष्ठ ऋषिवरको तो धर दबाया था फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है ? साराश यह कि विषय बहुत बड़ा शत्रु है, इससे जहाँतक हो सके, सदा बचकर ही रहना चाहिये ।

जब मनुष्य विषयसे थक जाता है, हार जाता है तो स्वभावत ही उसे उससे घृणा होने लगती है, परन्तु यदि पहलेसे ही घृणा होने लगे, तो फिर क्या कहना है ?

जब एक बार पापका अनुभव कर लिया, तब फिर सदा उससे बचनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

पापका अनुभव दु खसे होता है ।

योगाभ्यासका अभिप्राय यह है कि जो चीज (विषय-वासना) अपनी ओर खींचनेवाली है, वह न खींच सके ।

अरण्यमें जाकर रहनेका उद्देश्य यह होता है कि वहाँ रहकर मनको इस प्रकार वशमें कर लिया जाय कि फिर जब जनतामें आकर लोगोंको सत्यका सन्देश सुनाने लगें तो संसारकी कोई भी वस्तु अपनी ओर न खींच सके।

जो अपने कपड़ोंको अपने हाथसे उतारकर फेंक देता है, उसे अवधूत नहीं कहते, बल्कि अवधूत उसे कहते हैं, जिसे कपड़े स्वयं छोड़ देते हैं और ध्यान या साधनामें लगे रहनेके कारण उसे इस बातका कुछ पता ही नहीं लगता।

प्रारब्धानुसार जबतक शरीर है तबतक रहना तो है, पर किसी कामनासे नहीं, किसी वासनासे नहीं।

त्यागीके सम्बन्धमें कहा है कि वह स्त्री और पुरुषमें कोई भेद न समझे, सबको समान जाने।

जिसे स्त्री, पुरुष और वृक्षादि सभी एक परमात्मरूप ही दिखायी देते हैं, उसे किसी प्रकारका भय नहीं है।

विद्वान् केवल पुस्तकें रटनेवालेका नाम नहीं, भगवत्साक्षात्कार करनेवालेका नाम ही विद्वान् है।

गृहस्थीमें रहते हुए प्रारब्ध-कर्मसे प्राप्त फलको भोगता हुआ जो निर्लिप्त रहता है, उसे ही सद्गति मिलती है। भगवान्‌के शरणागत होकर उसकी भक्ति करते हुए, उसके शासनमें रहते हुए, जो उसे अपना सारथी बनाता है, भगवान् उसे जरूर पार लगा देता है।

जब मनुष्य इन्द्रियोंके शिथिल हो जानेसे रुग्ण हो जाता है तो कहता है कि भविष्यमें मैं ऐसा कोई कुकर्म नहीं करूँगा, जिससे फिर इस दशाको प्राप्त होना पड़े, पर ज्यों ही वह भला चंगा हो जाता है कि झटसे फिर उसी काममें लग जाता है जिससे कि वह उस दशाको प्राप्त हुआ था।

जब इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं, थक गयीं, मुरझा गयीं तो फिर विषयासक्ति न भी रही तो क्या? फिर वैराग्य पैदा हुआ तो क्या?

इन्द्रियाँ रहें, पर हमारे अधीन होकर रहें, न कि हमें अपने अधीन रखकर।

जो सकाम कर्म करते हैं, उन्हें कर्मानुसार स्वर्ग मिलता तो जरूर है, पर रहना वहाँ भी बन्धनमें ही पड़ता है और जब सत्कर्म समाप्त हो जाते हैं तो फिर जन्म लेना पड़ता है। जैसे देवराज इन्द्रको भी एक बार चूहेतकका जन्म लेना पड़ा था।

हमारे भीतर जो काम, क्रोध और लोभादि शत्रु हैं, वे बड़े प्रबल हैं। वे हमें मोक्षके दुर्गमें घुसने नहीं देते और सदा मोक्षमार्गसे रोकते ही रहते हैं।

अपनी मायाशक्तिको केवल भगवान् ही हटा सकते हैं, मनुष्य नहीं। मनुष्यमें भला ऐसी शक्ति ही कहाँ है? परन्तु हाँ, जब नर, नारायणको सारथी बना लेता है तो उसकी माया अपने आप हट जाती है।

नरको नारायण बनना है। जबतक नर, नारायण नहीं बनेगा और नर ही रहेगा, तबतक नरकों ही पड़ा रहेगा।

कोई मरा हुआ प्राणी रोनेसे जीवित नहीं हो सकता और बीमार चिन्तासे अच्छा नहीं हो सकता, इसलिये किसीकी मृत्युपर रोना या बीमारके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है ।

चिन्ता करनेसे विचारका नाश होता है और विचारका नाश होनेसे मनमें विकार उत्पन्न होता है, फिर विकारसे अशान्ति तथा अशान्तिसे दुःख मिलता है तथा कर्तव्य बिगड़ता है, इसलिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।

कामान्ध मनुष्य पाप और पुण्यको जानते हुए भी नहीं मानता ।

जिस प्रकार शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है, उसी प्रकार अभ्यास भी धीरे-धीरे ही बढ़ता है ।

जो ज्ञानी होते हैं, विचारवान् होते हैं, वे किसीके लिये शोक नहीं करते ।

अपने शरीरमें जो पीड़ा हो, उसे प्रारब्ध-कर्मानुसार आयी हुई जानकर शान्तिसे सहन करना चाहिये ।

संसारमें प्रतिदिन कितने जीव मरते रहते हैं, पर उन सबके लिये तो हम नहीं रोते हैं । रोते तो केवल उसीके लिये हैं, जिसके साथ हमारी कुछ ममता होती है । ममता मोहके कारण होती है, इसलिये सारे दुःखों-की जड़ ममताको ही समझना चाहिये ।

जहाँ ममता नहीं है वहाँ दुःख नहीं है । जहाँ ममता है वहीं दुःख है ।

अगर हम अशान्ति नहीं चाहते तो ममताका त्याग करना ही होगा। उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना ही पड़ेगा।

जो मरणको रोता नहीं और जीवितकी चिन्ता नहीं करता, वही ज्ञानी है।

शरीरको कोई भले ही मार डाले, आत्माको कोई भी नहीं मार सकता।

अपना कर्तव्य करते जाओ, फल अपने आप ही मिलेगा।

शरीरको कोई दुःख होनेसे मन और बुद्धिको कोई दुःख न होना चाहिये। पर होता यह है कि जरा-सा भी शारीरिक कष्ट होनेसे हम रोने बैठ जाते हैं।

परमात्मा और जीवात्मा एक है।

अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको ज्ञानी समझना जीवका स्वभाव ही है।

ज्ञानीका लक्षण कर्तव्य छोड़ देना कदापि नहीं है। अर्थात् ज्ञानी उसे कहते हैं, जो अपने कर्तव्यको नहीं छोड़ता।

जो ज्ञानी बन गये, जो मूलस्वरूपमें पहुँच गये, जो नारायण बन गये, वे नाश हो जानेवाली सांसारिक वस्तुओंके पीछे रोते नहीं हैं।

जिसे शान्ति नहीं, उसे सुख कहाँ?

शान्ति और आनन्द एक चीज है तथा अशान्ति और आनन्द दूसरी चीज।

संसारमें जो क्षणिक पदार्थ हैं, वे शोचके योग्य नहीं हैं।

मनके एकाग्रतासे किसी ओर लग जानेपर, दूसरी चीजोंकी सुधि वह भूल जाता है।

हम भगवत्-साक्षात्कार भी चाहें और सांसारिक चिन्ताओंको भी न छोड़ें यह कैसे हो सकता है ?

संसारकी प्रत्येक वस्तुमें परमात्माका स्वरूप देखते रहनेसे हृदयसे मोह अपने-आप ही भाग जाता है और मोहके चले जानेसे हृदयकी अशान्ति जाती रहती है तथा सच्चिदानन्दका भण्डार खुल जाता है।

शरीर भी जड़ है और मन भी, पर शरीर मनकी अपेक्षा अधिक जड़ है, इसलिये मन स्वाभाविक ही शरीरको जीत सकता है। पर जहाँ मनको अपनी ताकतका पता नहीं होता और वह अपना कर्तव्य पालन नहीं करता, वहाँ शरीर मनको जीतकर उसे अपना दास बना लेता है।

चाहे कोई कितनी भी शक्ति रखता हो, पर तबतक उससे कोई लाभ नहीं है, जबतक वह उसका उपयोग नहीं करता।

हम चेतन और जगत् जड़ है, यह ठीक है, पर कब ? जब हम चेतनसे काम लें। यदि हम इस जड़से भी जड़ बन बैठें तो यह निश्चय ही हमको दबा सकता है।

मुर्देसे भी मुर्दा होकर रहे और शिकायत करे कि दुनिया हमें मान नहीं देती और तंग करती है यह कितनी मूर्खता है ! दुनियाका इसमें क्या दोष है ?

शरीरके ऊपर इन्द्रियोंका अधिकार है, इन्द्रियोंके ऊपर मनका और मनके ऊपर बुद्धिका।

जैसे किसी मकानके गिर जानेसे कोई यह नहीं कहता कि मकानमालिक मर गया, उसी प्रकार शरीरके गिर जानेसे आत्मा मर गया है, यह कहना भी ठीक नहीं है। ध्यानमें रहना चाहिये कि आत्मा कभी मर सकनेवाली चीज नहीं है।

जो वस्तु नहीं है, उसकी सृष्टि कभी नहीं हो सकती, और जो है, उसका नाश कभी नहीं हो सकता।

वस्तु सत्य और गुण मिथ्या है।

बिम्बसे प्रतिबिम्बका अस्तित्व है। बिम्बके बिना प्रतिबिम्ब नहीं रह सकता, परन्तु प्रतिबिम्बके बिना बिम्ब रह सकता है।

किसी वस्तुका रूपान्तर हो सकता है, नामान्तर हो सकता है स्थानान्तर हो सकता है, पर नाश कभी नहीं हो सकता।

आत्मा नित्य अस्तित्ववाली वस्तु है। इसलिये उसका कभी नाश नहीं हो सकता।

आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परम आनन्दमय है। शरीर आत्माका एक आवरण है, जो नश्वर है।

जबतक मनन नहीं किया, तबतक श्रवणका कुछ असर नहीं। मननसे निदिध्यासन स्वयमेव आ जाता है।

विघ्न डालनेवाले, दुःख देनेवाले, बन्धनमें रखनेवालेको दंड ऐसा द्वेषसे किया जाय या प्रेमसे, खुद बदला देना होगा। स्वयं भगवान् इस कायदेपर चलकर सबूत देते हैं। बालिको रामरूपसे मारकर और कृष्णावतारमें भील शिकारीसे बाण खाकर लीला संवरण करते हैं। सीताजी तोतेको प्रेमसे बन्धनमें रखकर स्वयं रावणके घर कैद होती हैं।

भक्तिके लिये मुरलीका उदाहरण ग्रहण करो।

भगवान्, गुरु और शास्त्रपर श्रद्धा पूरी होनी चाहिये।

कर्तव्य प्रत्येक दशामें उचित है। फलकी इच्छा या विचार नहीं होना चाहिये।

श्रद्धासे साधनके मार्गपर चढ़ा हुआ मनुष्य कभी गिर नहीं सकता।

नश्वर दुःखस्वरूप अज्ञान अशान्तिकर पदार्थोंका त्याग करना वैराग्य है।

भगवान्‌को कोई ठग नहीं सकता। यहाँ कालिदीपर फैसला होता है।

हिसाबसे काम नहीं होना चाहिये, बल्कि प्रेम और भक्तिकी भावनासे होना चाहिये। इस मनुष्य-जन्ममें ही बन्धनसे छूटनेका अवसर है और शाश्वत शान्ति, परम आनन्द एवं ज्ञान प्राप्त करनेका साधन है।

समय बहुत तीव्र गतिसे गुजरता है। हाथसे नहीं खोना चाहिये।

देवतालोग भी मनुष्य-जन्मके लिये ललचते हैं और पुण्य समाप्त होनेसे उनको लौटना पड़ता है। वे वहाँ केवल भोगक्षेत्र ही होते हैं। मनुष्य-जन्म ही कर्मक्षेत्र है।

शरीर एक उन्नतिका साधन है। यह वह नाव है, जिसके द्वारा संसाररूपी समुद्रको पार करना है। भली प्रकार सुरक्षित रखते हुए अपना कार्य समाप्त हो जानेतक इसको परिपुष्ट रखना धर्म है।

ज्ञानसे ही मुक्ति हो सकती है, इसीसे परम शान्ति शाश्वत सुख या परम आनन्दमें पहुँचा जा सकता है।

केवल तत्त्वदर्शन ही ज्ञान दे सकता है।

गुरु ब्रह्मा, विष्णु और महादेवका कार्य करता है।

भगवान् और भक्तका जो सम्बन्ध है, वही शिष्य और गुरुका है।

गति पाँच तरहकी है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य और कैवल्य।

शरीरके तीन भाग हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। मृत्युके बाद कारण-शरीरके साथ प्राण, मन, बुद्धि और पूर्व-जन्मकी वासनाएँ जाती हैं।

मन बहुत चञ्चल है और दुर्वासनामें ले जाना इसका स्वभाव है। अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है, रुकता है।

पूर्व-जन्मकी वासनासे मनुष्य बँधा होता है, परन्तु अभ्यास उसको बुरी वासनाओंसे रोकते जाना चाहिये। ऐसा करनेसे शनैः शनैः एक दिन फिर खोटा अभ्यास दूर हो जाता है।

इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम और बुद्धि सारथी है। इसमें सदा होशियार होना चाहिये।

रामचरितका आध्यात्मिक अर्थ

राम—जो रमता है, जो आनन्दमें रहता है। शान्ति यानी सीताजी केवल राम (आनन्द) की ही पत्नी हो सकती हैं। समुद्र पारका अर्थ अज्ञानरूपी समुद्रसे पार होना है।

रावण—जो रुलाता है वह रावण है। अर्थात् काम, क्रोधादि।

लङ्का—उन राक्षसोंकी नगरी है जो शरीरके अंदर रहकर उसमें विघ्न डालते हैं। (नश्वर आनन्द)

अशोकवन—जहाँ शोकवन नहीं है। मूल पदार्थ सीताजी यानी शान्ति आनन्दस्वरूप अन्तरात्माके मध्यमें रहती है। लंकामें ठहर नहीं सकती।

अयोध्या—जहाँ युद्ध नहीं हो सकता, जिसको मार नहीं सकते अर्थात् आत्मा।

दैयात्—जहाँ हिसाबकी बात नहीं, सिद्धान्तके मध्यकी बात नहीं होती। आकस्मिकतापर छोड़ देनेका काम है।

पुरुषार्थ और प्रारब्धमें फुटबालका दृष्टान्त याद रक्खो। नये कर्म पुराने कर्मसे परिवर्तित कर सकते हैं, परन्तु युक्ति मालूम होनी चाहिये।

स्वर्ग—आनन्द भोगनेका स्थान ।

नरक—दु ख भोगनेका स्थान ।

भ्रम जब आ गया तो एक तो दु ख भोगते रहते हैं और दूसरे सुख भी शुद्ध नहीं होता अर्थात् सुखमें रहता हुआ भी दुखी रहता है । अर्थात् इस लोकमें रहते हुए भी नरकमें रहते हैं, क्योंकि अज्ञानमें रहते हैं ।

मोक्षका मार्ग अज्ञान नहीं, ज्ञान है । अज्ञानसे नरकका मार्ग मिलता है, क्योंकि अज्ञानसे कामना होती है, कामनासे कर्म और कर्मसे फिर जन्म । केवल निष्काम कर्मसे जन्म नहीं होता ।

नरक अर्थात् मनुष्यका आनन्द । प्रथम तो सुखका अंश हिसाबसे बहुत कम निकला, फिर उसमें भी कलंक होता रहता है । ज्ञानी जब जन्म नहीं सकता तो मृत्युका प्रभाव उसपर नहीं हो सकता । सांसारिक व्यवहारमें भी नियम होते हैं प्रत्येक कार्य नियमसे ही चलता है और नियम प्रत्येक बातके लिये पृथक्-पृथक् होते हैं । जैसा कि रुपया कहीं भेजना है तो कमीशन नियत है । यदि लेटर-बक्समें रुपया और कमीशन डाल दिया जाय और मनीआर्डर न कराया जाय तो रुपया पहुँचता ही नहीं । अर्थात् नियमके अनुसार जब काम नहीं किया जाता तो फल नहीं मिलता । श्राद्धके विषयमें भी इसी तरह धर्मशास्त्रके नियम रक्खे हैं, जिसके अनुसार चलनेसे ही फल मिल सकता है अर्थात् लोकान्तरके कार्योंके नियम बँधे हुए हैं । फल सब चाहते हैं परन्तु कर्म नहीं करते, न नियमानुसार करते हैं । अश्रद्धा आदि आ जाती है । बीजसे फल जरूर होता है, परन्तु यदि नियमसे

श्रीविष्णु

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ॥

श्रीहरिः

ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप

साधक एकान्त और पवित्र स्थानमें कुश या ऊनके आसनपर स्वस्तिक, सिद्ध या पद्मासन आदि किसी आसनसे स्थिर, सीधा और सुखपूर्वक बैठे और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंका त्याग करके स्फुरणासे रहित हो जाय। पश्चात् आलस्य-रहित और वैराग्ययुक्त पवित्र चित्तसे अपने इष्टदेव भगवान्‌का आह्वान करे। यह खयाल रखना चाहिये कि जब ध्यानावस्थामें भगवान् आते हैं तब चित्तमें बड़ी प्रसन्नता, शान्ति, ज्ञानकी दीप्ति एवं सारे भू-मण्डलमें महाप्रकाश नेत्रोंको बंद करनेपर प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है। जहाँ शान्ति है वहाँ विक्षेप नहीं होता और जहाँ ज्ञानकी दीप्ति होती है वहाँ निद्रा-आलस्य नहीं आते। और यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्‌से स्तुति और प्रार्थना करनेपर ध्यानावस्थामें भगवान् आते हैं। अपने इष्टदेवके साकाररूपका ध्यान करनेमें कोई कठिनाई भी नहीं है। यदि कहो कि देखी हुई चीजका ध्यान होना सहज है, बिना देखी हुई चीजका ध्यान कैसे हो सकता है? सो ठीक है, किन्तु शास्त्र और

महात्माओंके वचनोंके आधारपर तथा अपने इष्टदेवके रुचिकर चित्रके आधारपर भी ध्यान हो सकता है। इसलिये साधकको उचित है कि नेत्रोंको मूँदकर अपने इष्टदेव परमेश्वरका आह्वान करे और साधारण आह्वान करनेसे न आनेपर उनके नाम और गुणोंका कीर्तन एवं दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा स्तुति और प्रार्थना करते हुए श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करुणभावसे गद्गद होकर भगवान्‌का पुनः-पुनः आह्वान करे और भगवान्‌के आनेकी आशा और प्रतीक्षा रखते हुए इस चौपाईका उच्चारण करे—

एक बात मैं पूछहु तोही। कारन कवन बिसारेहु मोही॥

फिर यह विश्वास करना चाहिये कि हमारे इष्टदेव भगवान् आकाशमें हमारे सम्मुख करीब दो फीटकी दूरीपर प्रत्यक्ष ही खड़े हैं। तत्पश्चात् चरणोंसे लेकर मस्तकतक उस दिव्य मूर्तिका अवलोकन करते हुए यह चौपाई पढ़नी चाहिये—

नाथ सकल साधनकर हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥

हे नाथ! मैं तो सम्पूर्ण साधनोंसे हीन हूँ, आपने मुझे दीन जानकर दया की है अर्थात् मैंने तो कोई भी ऐसा साधन नहीं किया कि जिसके बलपर ध्यानमें भी आपके दर्शन हो सकें। किन्तु आपने मुझे दीन जानकर ही ध्यानमें दर्शन दिये हैं। इस प्रकार भगवान्‌के आ जानेपर साधक ध्यानावस्थामें भगवान्‌से वार्तालाप करना आरम्भ करता है।

साधक—प्रभो! आप ध्यानावस्थामें भी प्रकट होनेमें इतना विलम्ब क्यों करते हैं? पुकारनेके साथ ही आप क्यों नहीं आ जाते? इतना तरसाते क्यों हैं?

भगवान्—तरसानेमें ही तुम्हारा परम हित है।

सा०—तरसानेमें क्या हित है, मैं नहीं समझता। मैं तो आपके पधारने-में ही हित समझता हूँ।

भ०—विलम्बसे आनेमें विशेष लाभ होता है। विरहव्याकुलता होती है, उत्कट इच्छा होती है। उस समय आनेमें विशेष आनन्द होता है। जैसे विशेष क्षुधा लगनेपर अन्न अमृतके समान लगता है।

सा०—ठीक है, किन्तु विशेष विलम्बसे आनेपर निराश होकर साधक ध्यान छोड़ भी तो सकता है।

भ०—यदि मुझपर इतना ही विश्वास नहीं है और मेरे आनेमें विलम्ब होनेके कारण जो साधक उकताकर ध्यान छोड़ सकता है, उसको दर्शन देकर ही क्या होगा।

सा०—ठीक है, किन्तु आपके आनेसे आपमें रुचि तो बढ़ेगी ही और उससे साधन भी तेज होगा, इसलिये आपको पुकारनेके साथ ही पधारना उचित है।

भ०—उचित तो वही है जो मैं समझता हूँ, और मैं वही करता हूँ, जो उचित होता है।

सा०—प्रभो! मुझे वैसा ही मानना चाहिये जैसा आप कहते हैं किन्तु मन बड़ा पाजी है। यह मानने नहीं देता। आप कहते हैं वही बात सही है फिर भी मुझे तो यही प्रिय लगता है कि मैं बुलाऊँ और तुरंत आप आ जायँ। यह बतलाइये वह कौन-सी पुकार है जिस एक ही पुकारके साथ आप आ सकते हैं!

भ०—गोपियोंकी भाँति जब साधक मेरे ही लिये विरहसे तड़पता है तब वैसे आ सकता हूँ या मुझमें प्रेम और विश्वास करके द्रौपदी और गजेन्द्रकी भाँति जब आतुरतासे व्याकुल होकर पुकारता है तब आ सकता हूँ। अथवा प्रह्लादके सदृश निष्कामभावसे भजनेवालेके लिये बिना बुलाये भी आ सकता हूँ।

सा०—विरहसे व्याकुल करके आते हैं यह आपकी कैसी आदत है। आप विरहकी वेदना देकर क्यों तड़पाते हैं?

भ०—विरहजनित व्याकुलताकी तो बड़ी ऊँचे दर्जेकी स्थिति है। विरहव्याकुलतासे प्रेमकी वृद्धि होती है। फिर भक्त क्षणभरका भी वियोग सहन नहीं कर सकता। उसको सदाके लिये मेरी प्राप्ति हो जाती है। एक दफा मिलनेके बाद फिर कभी छोड़ता ही नहीं। जैसे भरत चौदह सालतक विरहसे व्याकुल रहा, फिर मेरा साथ उसने कभी नहीं छोड़ा।

सा०—आपको कभी कार्य होता तो आप प्रायः लक्ष्मण और शत्रुघ्नको ही सुपुर्द करते, भरतको नहीं। इसका क्या कारण था?

भ०—प्रेमकी अधिकताके कारण भरत मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता था।

सा०—फिर उन्होंने चौदह सालतक वियोग कैसे सहन किया?

भ०—मेरी आज्ञासे बाध्य होकर उसको वियोग सहन करना पड़ा और उसी विरहसे प्रेमकी इतनी वृद्धि हुई कि फिर उसका मुझसे कभी वियोग नहीं हुआ।

सा०—पर उस विरहमें आपने मरतका क्या हित सोचा ?

भ०—चौदह सालका विरह सहन करनेसे वह विरह और मिलनके तत्त्वको जान गया। फिर एक क्षणभरका वियोग भी उसको एक युगके समान प्रतीत होने लगा। यदि ऐसा नहीं होता तो मेरी ओर इतना आकर्षण कैसे होता ?

सा०—विरहकी व्याकुलतासे निराशा भी तो हो सकती है ?

भ०—कह ही चुका हूँ कि ऐसे पुरुषोंके लिये फिर दर्शन देनेकी आवश्यकता ही क्या है ?

सा०—फिर ऐसे पुरुषोंको आपके दर्शनके लिये क्या करना चाहिये ?

भ०—जिस किस प्रकारसे मुझमें श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि हो ऐसी कोशिश करनी चाहिये।

सा०—क्या बिना श्रद्धा और प्रेमके दर्शन हो ही नहीं सकते ?

भ०—हाँ ? नहीं हो सकते, यही नीति है।

सा०—क्या आप रियायत नहीं कर सकते ?

भ०—किसीपर रियायत की जाय और किसीपर नहीं की जाय तो विषमताका दोष आता है। सबपर रियायत हो नहीं सकती।

सा०—क्या ऐसी रियायत कभी हो भी सकती है ?

भ०—हाँ, अन्तकालके लिये ऐसी रियायत है। उस समय बिना श्रद्धा और प्रेमके भी केवल मेरा स्मरण करनेसे ही मेरी प्राप्ति हो जाती है।

सा०—फिर उसके लिये भी यह विशेष रियायत क्यों रक्खी गयी ?

भ०—उसका जीवन समाप्त हो रहा है। सदाके वास्ते वह इस मनुष्य-शरीरको त्याग कर जा रहा है। इसलिये उसके वास्ते यह खास रियायत रक्खी गयी है।

सा०—यह तो उचित ही है कि अन्तकालके लिये यह विशेष रियायत रक्खी गयी है। किन्तु अन्तसमयमें मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ अपने काबूमें नहीं रहते, अतएव उस समय आपका स्मरण करना भी वशकी बात नहीं है।

भ०—इसके लिये सर्वदा मेरा स्मरण रखनेका अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा अभ्यास करेगा उसको मेरी स्मृति अवश्य होगी।

सा०—आपकी स्मृति मुझे सदा बनी रहे इसके लिये मैं इच्छा रखता हूँ और कोशिश करता हूँ, किन्तु चञ्चल और उद्दण्ड मनके आगे मेरी कोशिश चलती नहीं। इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

भ०—जहाँ-जहाँ तुम्हारा मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसका लौटाकर प्रेमसे समझाकर मुझमें पुन -पुन लगाना चाहिये अथवा मुझको सब जगह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ ही मेरा चिन्तन करना चाहिये।

सा०—यह बात मैंने सुनी है, पढ़ी है और मैं समझता भी हूँ। किन्तु उस समय यह युक्ति मुझे याद नहीं रहती इस कारण आपका स्मरण नहीं कर सकता?

भ०—आसक्तिके कारण यह तुम्हारी बुरी आदत पड़ी हुई है तथा आसक्तिका नाश और आदत सुधारनेके लिये महापुरुषोंका सङ्ग तथा नामजपका अभ्यास करना चाहिये।

सा०—यह तो यत्किञ्चित् किया भी जाता है और उससे लाभ भी होता है किन्तु मेरे दुर्भाग्यसे यह भी तो हर समय नहीं होता।

भ०—इसमें दुर्भाग्यकी कौन बात है? इसमें तो तुम्हारी ही कोशिश-की कमी है।

सा०—प्रभो! क्या भजन और सत्सङ्ग कोशिशसे होता है। सुना है कि सत्सङ्ग पूर्वपुण्य इकट्ठे होनेपर ही होता है।

भ०—मेरा और सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर भजनकी जो कोशिश होती है वह अवश्य सफल होती है। उसमें कुसङ्ग, आसक्ति और सञ्चित बाधा तो डालते हैं, किन्तु इसके तीव्र अभ्याससे सब बाधाओंका नाश हो जाता है और उत्तरोत्तर साधनकी उन्नति होकर श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है और फिर विघ्न-बाधाएँ नजदीक भी नहीं आ सकतीं। प्रारब्ध केवल पूर्वजन्मके किये हुए कर्मोंके अनुसार भोग प्राप्त कराता है, वह नवीन शुभ कर्मोंके होनेमें बाधा नहीं डाल सकता। जो बाधा प्राप्त होती है वह साधककी कमजोरीसे होती है। पूर्वसञ्चित पुण्योंके सिवा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक कोशिश करनेपर भी मेरी कृपासे सत्सङ्ग मिल सकता है।

सा०—प्रभो! बहुत-से लोग सत्सङ्ग करनेकी कोशिश करते हैं पर जब सत्सङ्ग नहीं मिलता तो भाग्यकी निन्दा करने लग जाते हैं। क्या यह ठीक है?

भ०—ठीक है किन्तु उसमें धोखा हो सकता है। साधनमें ढीलापन

आ जाता है। जितना प्रयत्न करना चाहिये उतना करनेपर यदि सत्सङ्ग न हो तो ऐसा माना जा सकता है परन्तु इस विषयमें प्रारब्धकी निन्दा न करके अपनेमें श्रद्धा और प्रेमकी जो कमी है उसीकी निन्दा करनी चाहिये, क्योंकि श्रद्धा और प्रेमसे नया प्रारब्ध बनकर भी परम कल्याणकारक सत्सङ्ग मिल सकता है।

सा०—प्रभो! आप सत्सङ्गकी इतनी महिमा क्यों करते हैं?

भ०—बिना सत्सङ्गके न तो भजन, ध्यान, सेवादिका साधन ही होता है और न मुझमें अनन्य प्रेम ही हो सकता है। इसके बिना मेरी प्राप्ति होनी कठिन है। इसीसे मैं सत्सङ्गकी इतनी महिमा करता हूँ।

सा०—प्रभो! बतलाइये, सत्सङ्गके लिये क्या उपाय किया जाय?

भ०—पहले मैं इसका उपाय बतला ही चुका हूँ कि श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सत्सङ्गके लिये कोशिश करनेपर मेरी कृपासे सत्सङ्ग मिल सकता है।

सा०—अब मैं सत्सङ्गके लिये और भी विशेष कोशिश करूँगा। आपसे भी मैं निष्काम प्रेमभावसे भजन-ध्यान निरन्तर होनेके लिये मदद माँगता हूँ।

भ०—तुम अपनी बुद्धिके अनुसार ठीक माँग रहे हो, किन्तु यह तुम्हारे मनको उतना अच्छा नहीं लगता जितने कि विषयभोग लगते हैं।

सा०—हाँ! बुद्धिसे तो मैं चाहता हूँ, पर मन बड़ा ही पाजी है, इससे रुचि कम होनेके कारण उसको भजन-ध्यान अच्छा न लगे तो उसके आगे मैं लाचार हूँ। इसलिये ही आपको विशेष मदद करनी चाहिये।

प्र०—मनकी भजन-ध्यानकी ओर कम रुचि हो तो भी यही कोशिश करते रहो कि वह भजन-ध्यानमें लगा रहे। धीरे-धीरे उसमें रुचि होकर भजन-ध्यान ठीक हो सकता है।

सा०—मैं शक्तिके अनुसार कोशिश करता रहा हूँ किन्तु अभीतक सन्तोषजनक काम नहीं बना। इसीसे उत्साह भङ्ग-सा होता है। यही विश्वास है कि आपकी दयासे ही यह काम हो सकता है अतएव आपको विशेष दया करनी चाहिये।

प्र०—उत्साहहीन नहीं होना चाहिये। मेरे ऊपर भार डालनेसे सब कुछ हो सकता है। यह तो ठीक है, किन्तु मेरी आज्ञाके अनुसार कटिबद्ध होकर चलनेकी भी तो तुम्हें कोशिश करनी ही चाहिये। ऐसा मत मानो कि हमने सब कोशिश कर ली है, अभी कोशिश करनेमें बहुत कमी है। तुम्हारी शक्तिके अनुसार अभी कोशिश नहीं हुई है। इसलिये खूब तत्परतासे कोशिश करनी चाहिये।

सा०—आपका आश्रय लेकर और कोशिश करनेकी चेष्टा करूँगा किन्तु काम तो आपकी दयासे ही होगा।

प्र०—यह तो तुम्हारे प्रेमकी बात है कि तुम मुझपर विश्वास रखते हो। किन्तु सावधान रहना कि भूलसे कहीं हरामीपन न आ जाय। मैं कहता हूँ कि तुम्हें उत्साह बढ़ाना चाहिये। जब मेरा यह कहना है तो तुम्हारे उत्साहमें कमी होनेका कोई भी कारण नहीं है। केवल मन ही तुम्हें धोखा दे रहा है। उत्साह-

भजनकी बात मनमें आने ही मत दो, हमेशा उत्साह रक्खो।

सा०—शान्ति और प्रसन्नता न मिलनेपर मेरा उत्साह ढीला पड़ जाता है।

प्र०—जब तुम मुझपर भरोसा रखते हो तो फिर कार्यकी सफलताकी ओर क्यों ध्यान देते हो? यह भी तो कामना ही है।

सा०—कामना तो है किन्तु यह है तो केवल भजन-ध्यानकी वृद्धिके लिये ही।

प्र०—जब तुम हमारी शरण आ गये हो तो भजन-ध्यानकी वृद्धिके लिये शान्ति और प्रसन्नताकी तुम्हें चिन्ता क्यों है? तुझे तो मेरी आज्ञापालनपर ही विशेष ध्यान रखना चाहिये। कार्यके फलपर नहीं।

सा०—कार्य सफल न होनेसे उत्साहभङ्ग होगा और उत्साहभङ्ग होनेसे भजन-ध्यान नहीं बनेगा।

प्र०—यह तो ठीक है, किन्तु सफलताकी कमी देखकर भी उत्साहमें कमी नहीं होनी चाहिये। मुझपर विश्वास करके उत्तरोत्तर मेरी आज्ञासे उत्साह बढ़ाना चाहिये।

सा०—यह बात तो ठीक और युक्तिसंगत है किन्तु फिर भी शान्ति और प्रसन्नता न मिलनेपर उत्साहमें कमी आ ही जाती है।

प्र०—ऐसा होता है तो तुमने फिर मेरी बातपर कहाँ ध्यान दिया! इसमें तो केवल तुम्हारे मनका धोखा ही है।

सा०—भगवन् ! क्या इसमें मेरे सञ्चित पाप कारण नहीं हैं ? क्या वे मेरे उत्साहमें बाधा नहीं डाल रहे हैं ?

भ०—मेरी शरण हो जानेपर पाप रहते ही नहीं ।

सा०—यह मैं जानता हूँ किन्तु मैं वास्तवमें आपकी पूर्णतया शरण कहाँ हुआ हूँ ? अभीतक तो केवल वचनमात्रसे ही मैं आपकी शरण हूँ ।

भ०—वचनमात्रसे भी जो एक बार मेरी शरण आ जाता है उसका भी मैं परित्याग नहीं करता । किन्तु तुम्हें तो तुम्हारा जैसा भाव है उसके अनुसार मेरी शरण होनेके लिये खूब कोशिश करनी चाहिये ।

सा०—कोशिश तो खूब करता हूँ, किन्तु मनके आगे मेरी कुछ चलती नहीं ।

भ०—खूब कोशिश करता हूँ यह मानना गलत है । कोशिश थोड़ी करते हो और उसको मान बहुत लेते हो ।

सा०—इसके सुधारनेके लिये मैं विशेष कोशिश करूँगा किन्तु शरीरमें और सांसारिक विषयोंमें आसक्ति रहने तथा मन चञ्चल होनेके कारण आपकी दया बिना पूर्णतया शरण होना बहुत कठिन प्रतीत होता है ।

भ०—कठिन मानते हो इसीलिये कठिन प्रतीत हो रहा है । वास्तवमें कठिन नहीं है ।

सा०—कठिन कैसे नहीं मानूँ ? मुझे तो ऐसा प्रत्यक्ष मालूम होता है ।

प्र०—ठीक, मालूम हो तो होता रहे किन्तु तुम्हें हमारी बातकी ओर ही ध्यान देना चाहिये।

सा०—आजसे मैं आपकी दयापर भरोसा रखकर कोशिश करूँगा जिससे यह मुझे कठिन भी मालूम न पड़े। किन्तु सुना है कि आपके थोड़े-से भी नामजप तथा ध्यानसे सब पापोंका नाश हो जाता है। शास्त्र और आप भी ऐसा ही कहते हैं फिर वृत्तियाँ मलिन होनेका क्या कारण है? थोड़ा-सा भजन-ध्यान तो मेरे द्वारा भी होता ही होगा।

प्र०—भजन-ध्यानसे सब पापोंका नाश होता है यह सत्य है किन्तु इसमें कोई विश्वास करे तब न। तुम्हारा भी तो इसमें पूरा विश्वास नहीं है, क्योंकि तुम मान रहे हो कि पापोंका नाश नहीं हुआ। वे अभी वैसे ही पड़े हैं।

सा०—विश्वास न होनेमें क्या कारण है?

प्र०—नीच* और नास्तिकोंका† सङ्ग, सञ्चित पाप और दुर्गुण।

सा०—पाप और दुर्गुण क्या अलग-अलग वस्तु हैं?

प्र०—चोरी, जारी, झूठ, हिंसा और दम्भ-पाखण्ड आदि पाप हैं तथा राग, द्वेष, काम, क्रोध, दर्प और अहंकार आदि दुर्गुण हैं।

---

* झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि शास्त्रविपरीत कर्म करनेवालेको नीच कहते हैं।

† ईश्वरको तथा श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रको न माननेवालेको नास्तिक कहते हैं।

सा०—इन सबका नाश कैसे हो ?

भ०—इनके नाशके लिये निष्काम भावसे भजन, ध्यान, सेवा और सत्सङ्ग आदि करना ही सबसे बढ़कर उपाय है।

सा०—सुना है कि वैराग्य होनेसे भी राग-द्वेषादि दोषोंका नाश हो जाता है और उससे भजन ध्यानका साधन भी अच्छा होता है।

भ०—ठीक है, वैराग्यसे भजन ध्यानका साधन बढ़ता है। किन्तु अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना दृढ़ वैराग्य भी तो नहीं होता। यदि कहो कि शरीर और सांसारिक भोगोंमें दुःख और दोषबुद्धि करनेसे भी वैराग्य हो सकता है, सो ठीक है। पर यह वृत्ति भी उपर्युक्त साधनोंसे ही होती है। अतएव भजन, ध्यान, सेवा और सत्सङ्ग आदि करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

* * * *

सा०—भगवन्! अब यह बतलाइये कि आप प्रत्यक्ष दर्शन कब देंगे ?

भ०—इसके लिये तुम चिन्ता क्यों करते हो ? जब हम ठीक समझेंगे उसी वक्त दे देंगे। वैद्य जब ठीक समझता है तब आप ही सोचकर रोगीको अन्न देता है। रोगीको तो वैद्यपर ही निर्भर रहना चाहिये।

सा०—आपका कथन ठीक है। किन्तु रोगीको भूख लगती है तो वह 'मुझे अन्न कब मिलेगा' ऐसा कहता ही है। जो अन्नके वास्ते आतुर होता है वह तो पूछता ही रहता है।

भ०—वैद्य जानता है कि रोगीकी भूख सच्ची है या झूठी। भूख देखकर भी यदि वैद्य रोगीको अन्न नहीं देता तो उस न देनेमें भी उसका हित ही है।

सा०—ठीक है, किन्तु आपके दर्शन न देनेमें क्या हित है यह मैं नहीं समझता। मुझे तो दर्शन देनेमें ही हित दीखता है। रोटीसे तो नुकसान भी हो सकता है किन्तु आपके दर्शनसे कभी नुकसान नहीं हो सकता बल्कि परम लाभ होता है इसलिये आपका मिलना रोटी मिलनेके सदृश नहीं है।

भ०—वैद्यको जब जिस चीजके देनेसे सुधार होना मालूम पड़ता है उसीको उचित समयपर वह रोगीको देता है। इसमें तो रोगीको वैद्यपर ही निर्भर रहना चाहिये। वैद्य सच्ची भूख समझकर रोगीको रोटी देता है और उससे नुकसान भी नहीं होता। यद्यपि मेरा मिलना परम लाभदायक है किन्तु मुझमें पूर्ण प्रेम और श्रद्धारूप सच्ची भूखके बिना मेरा दर्शन हो नहीं सकता।

सा०—श्रद्धा और प्रेमकी तो मुझमें बहुत ही कमी है और मुझे उसकी पूर्ति होनी भी बहुत कठिन प्रतीत होती है। अतएव मेरे लिये तो आपके दर्शन असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य जरूर ही हैं।

भ०—ऐसा मानना तुम्हारी बड़ी भूल है, ऐसा माननेसे ही तो दर्शन होनेमें विलम्ब होता है।

सा०—नहीं मानूँ तो क्या करूँ? कैसे न मानूँ। पूर्ण श्रद्धा और

प्रेमके बिना तो दर्शन हो नहीं सकते और उनकी मुझमें बहुत ही कमी है।

भ०—क्या कमीकी पूर्ति नहीं हो सकती?

सा०—हो सकती है, किन्तु जिस तरहसे होती आयी है यदि उसी तरहसे होती रही तो इस जन्ममें तो इस कमीकी पूर्ति होनी सम्भव नहीं।

भ०—ऐसा सोचकर तुम स्वयं ही अपने मार्गमें क्यों रुकावट डालते हो? क्या सौ बरसका कार्य एक मिनिटमें नहीं हो सकता?

सा०—हाँ, आपकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

भ०—फिर यह हिसाब क्यों लगा लिया कि इस जन्ममें अब सम्भव नहीं?

सा०—यह मेरी मूर्खता है पर अब आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे आपमें शीघ्र ही पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो जाय।

भ०—क्या मुझमें तुम्हारी पूर्ण श्रद्धा और प्रेम होना मैं नहीं चाहता? क्या मैं इसमें बाधा डालता हूँ?

सा०—इसमें बाधा डालनेकी तो बात ही क्या है? आप तो मदद ही करते हैं। किन्तु श्रद्धा और प्रेमकी पूर्तिमें विलम्ब हो रहा है इसलिये प्रार्थना की जाती है।

भ०—ठीक है। किन्तु पूर्ण प्रेम और श्रद्धाकी जो कमी है उसकी पूर्ति करनेके लिये मेरा आश्रय लेकर खूब प्रयत्न करना चाहिये।

सा०—भगवन्! मैंने सुना है कि रोनेसे भी उसकी पूर्ति होती है। क्या यह ठीक है?

प्र०—वह रोना दूसरा है।

सा०—दूसरा कौन-सा और कैसा?

प्र०—वह रोना हृदयसे होता है, जैसे कि कोई आर्त-दुखी आदमी दु:खनिवृत्तिके लिये सच्चे हृदयसे रोता है।

सा०—ठीक है। चाहता तो वैसा ही हूँ, किन्तु सब समय वैसा रोना आता नहीं।

प्र०—इससे यह निश्चित होता है कि बुद्धिके विचारद्वारा तो तुम रोना चाहते हो, किन्तु तुम्हारा मन नहीं चाहता।

सा०—भगवन्! यदि मन ही चाहने लगे तो फिर आपसे प्रार्थना ही क्यों करूँ? मन नहीं चाहता इसीलिये तो आपकी मदद चाहता हूँ।

प्र०—मेरी आज्ञाओंके पालन करनेमें तत्पर रहनेसे ही मेरी पूरी मदद मिलती है। यह विश्वास रक्खो कि इसमें तत्पर होनेसे कठिन-से-कठिन भी काम सहजमें हो सकता है।

सा०—भगवन्! आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा, किन्तु होगा सब आपकी कृपासे ही। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। इसलिये आपकी यह आज्ञा मानकर अब विशेषरूपसे कोशिश करूँगा, मुझे निमित्त बनाकर जो कुछ करा लेना है, सो करा लीजिये।

भ०—ऐसा मान लेनेसे तुम्हारेमें कहीं हरामीपन न आ जाय !

सा०—भगवन् ! क्या आपसे मदद माँगना भी हरामीपन है ?

भ०—मदद तो माँगता रहे, किन्तु काम करनेसे जी चुराता रहे और आज्ञापालन करे नहीं, इसीका नाम हरामीपन है। जो कुछ मैंने बतलाया है मुझमें चित्त लगाकर वैसा ही करते रहो। आगे-पीछेका कुछ भी चिन्तन मत करो। जो कुछ हो प्रसन्नतापूर्वक देखते रहो। इसीका नाम शरणागति है। विश्वास रक्खो कि इस प्रकार शरण होनेसे सब कार्योंकी सिद्धि हो सकती है।

सा०—विश्वास तो करता हूँ किन्तु आतुरताके कारण भूल हो जाती है और परमशान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य चला ही जाता है।

भ०—जैसे कार्यके फलकी ओर देखते हो वैसे कार्यकी तरफ क्यों नहीं देखते ? मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे ही मेरेमें श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होकर मेरी प्राप्ति होती है।

सा०—किन्तु प्रभो ! आपमें श्रद्धा और प्रेमके हुए बिना आज्ञाका पालन भी तो नहीं हो सकता।

भ०—जितनी श्रद्धा और प्रेमसे मेरी आज्ञाका पालन हो सके उतनी श्रद्धा और प्रेम तो तुममें है ही।

सा०—फिर आपकी आज्ञाका अक्षरशः पालन न होनेमें क्या कारण है ?

भ०—सञ्चित पाप एवं राग, द्वेष, काम, क्रोधादि दुर्गुण ही बाधा डालनेमें हेतु हैं।

सा०—इनका नाश कैसे हो?

भ०—यह तो पहले ही बतला चुका हूँ। भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग आदि साधनोंसे होगा।

सा०—इसके लिये अब और भी विशेषरूपसे कोशिश करनेकी चेष्टा करूँगा। किन्तु यह भी तो आपकी मददसे ही होगा।

भ०—मदद तो मुझसे जितनी चाहो उतनी ही मिल सकती है।

* * * *

सा०—प्रभो! कोई-कोई कहते हैं कि प्रभुके प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञानचक्षुसे ही होते हैं, चर्मचक्षुसे नहीं—सो क्या बात है?

भ०—उनका कहना ठीक नहीं है। भक्त जिस प्रकार मेरा दर्शन चाहता है उसको मैं उसी प्रकार दर्शन दे सकता हूँ।

सा०—आपका विग्रह तो दिव्य है फिर चर्मचक्षुसे उसके दर्शन कैसे हो सकते हैं?

भ०—मेरे अनुग्रहसे। मैं उसको ऐसी शक्ति प्रदान कर देता हूँ जिसके आश्रयसे वह चर्मचक्षुके द्वारा भी मेरे दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकता है।

सा०—जहाँ आप दिव्य साकारस्वरूपसे प्रकट होते हैं वहाँ जितने मनुष्य रहते हैं उन सबको आपके दर्शन होते हैं या उनमेंसे किसी एक-दोको?

भ०—मैं जैसा चाहता हूँ वैसा ही हो सकता है।

सा०—चर्मदृष्टि तो सबकी ही समान है फिर किसीको दर्शन होते हैं और किसीको नहीं, यह कैसे?

भ०—इसमें कोई आश्चर्य नहीं। एक योगी भी अपनी योगशक्तिसे ऐसा काम कर सकता है कि बहुतोंके सामने प्रकट होकर भी किसीके दृष्टिगोचर हो और किसीके नहीं।

सा०—जब आप सबके दृष्टिगोचर होते हैं तब सबको एक ही प्रकारसे दीखते हैं या भिन्न-भिन्न प्रकारसे?

भ०—एक प्रकारसे भी दीख सकता हूँ और भिन्न-भिन्न प्रकारसे भी। जो जैसा पात्र होता है अर्थात् मुझमें जिसकी जैसी भावना, प्रीति और श्रद्धा होती है उसको मैं उसी प्रकार दिखायी देता हूँ।

सा०—आपके प्रत्यक्ष प्रकट होनेपर भी दर्शकोंमें श्रद्धाकी कमी क्यों रह जाती है? उदाहरण देकर समझाइये।

भ०—मैं श्रद्धाकी कमी और अभाव होते हुए भी सबके सामने प्रकट हो सकता हूँ और प्रकट होनेपर भी श्रद्धाकी कमी-बेशी रह सकती है, जैसे दुर्योधनकी सभामें मैं विराट्स्वरूपसे प्रकट हुआ और अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार दीख पड़ा और बहुत लोग मुझे देख भी नहीं सके।

सा०—जब आप प्रत्यक्ष अवतार लेते हैं तब तो सबको समान भावसे दीखते होंगे?

प्र०—अवतारके समय भी जिसकी जैसी भावना रहती है उसी प्रकार उसको दीखता हूँ ।*

सा०—बहुत-से लोग कहते हैं कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा साकाररूप से भक्तके सामने प्रकट नहीं हो सकते । लोगोंको अपनी भावना ही अपने-अपने इष्टदेवके साकाररूपमें दीखने लगती है ।

प्र०—वे सब भूलसे कहते हैं । वे मेरे सगुणस्वरूपके रहस्यको नहीं जानते । मैं स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी योगशक्तिसे दिव्य सगुण साकाररूपमें भक्तोंके लिये प्रकट होता हूँ । हाँ, साधनकालमें किसी-किसीको भावनासे ही मेरे दर्शनोंकी प्रतीति भी हो जाती है, किन्तु वास्तवमें वे मेरे दर्शन नहीं समझे जाते ।

सा०—साधक कैसे समझे कि दर्शन प्रत्यक्ष हुए या मनकी भावना ही है ।

प्र०—प्रत्यक्ष और भावनामें तो रात-दिनका-सा अन्तर है । जब मेरा प्रत्यक्ष दर्शन होता है तो उसमें भक्तोंके सब लक्षण घटने लग जाते हैं और उस समयकी सारी घटनाएँ भी प्रमाणित होती हैं, जैसे ध्रुवको मेरे प्रत्यक्ष दर्शन हुए और शङ्ख छुआनेसे बिना पढ़े ही उसे सब शास्त्रोंका ज्ञान हो गया, प्रह्लादके लिये मैं प्रत्यक्ष प्रकट हुआ और हिरण्यकशिपुका नाश कर डाला । ऐसी घटनाएँ भावनामात्र नहीं समझी जा सकतीं । किन्तु जो भावनासे मेरे

* जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

सम्बन्धकी प्रतीति होती है उसकी घटनाएँ इस प्रकार प्रमाणित नहीं होतीं।

सा०—कितने ही कहते हैं कि भगवान् तो सर्वव्यापी हैं फिर वे एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं? ऐसा होनेपर क्या आपके सर्वव्यापीपनमें दोष नहीं आता?

भ०—नहीं, जैसे अग्नि सर्वव्यापी है। कोई अग्निके इच्छुक अग्निको साधनद्वारा किसी एक देशमें या एक साथ अनेक देशोंमें प्रज्वलित करते हैं वे अग्निदेव सब देशोंमें मौजूद रहते हुए ही अपनी सर्वशक्तिको लेकर एक देशमें या अनेक देशोंमें प्रकट होते हैं। और मैं तो अग्निसे भी बढ़कर व्याप्त और अपरिमित शक्तिशाली हूँ, फिर मुझ सर्वव्यापीके लिये सब जगह स्थित रहते हुए ही एक साथ एक या अनेक जगह सर्वशक्तिसे प्रकट होनेमें क्या आश्चर्य है।

सा०—आप निर्गुण निराकार होते हुए दिव्य सगुण साकाररूपसे कैसे प्रकट होते हैं?

भ०—निर्मल आकाशमें भी परमाणुरूपमें जल रहता है वही जल बूँदोंके रूपमें आकर बरसता है और फिर वही उससे भी स्थूल बर्फ और ओलेके रूपमें भी आ जाता है। वैसे ही मैं सत् और असत्से परे होनेपर भी दिव्य ज्ञानके रूपमें शुद्ध सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा जाननेमें आता हूँ। तदनन्तर मैं नित्य विज्ञानानन्द हुआ ही अपनी योगशक्तिसे जब दिव्य प्रकाशके रूपमें प्रकट होता हूँ तब ज्योतिर्मयरूपसे योगियोंके हृदयमें दर्शन देता हूँ। और फिर

दिव्य प्रकाशरूप हुआ ही मैं दिव्य सगुण साकाररूपमें प्रकट होकर भक्तको प्रत्यक्ष दीखता हूँ। जैसे सूर्य प्रकट होकर सबके नेत्रोंको अपना प्रकाश देकर अपना दर्शन देता है।

सा०—कोई-कोई कहते हैं कि जल तो जड है, उसमें इस प्रकारका विकार हो सकता है, किन्तु निर्विकार चेतनमें यह सम्भव नहीं।

भ०—मुझ निर्विकार चेतनमें यह विकार नहीं है। यह तो मेरी शक्तिका प्रभाव है। मैं तो असम्भवको भी सम्भव कर सकता हूँ। मेरे लिये कुछ भी अशक्य नहीं है।

सा०—अच्छा, यह बतलाइये कि आपके साक्षात् दर्शन होनेके लिये सबसे बढ़कर क्या उपाय है?

भ०—मुझमें अनन्य भक्ति अर्थात् मेरी अनन्य शरणागति।

सा०—अनन्य भक्तिद्वारा किन-किन लक्षणोंसे युक्त होनेपर आप मिलते हैं?

भ०—दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंसे युक्त होनेपर (गीता १६। १ से ३ तक)।

सा०—दैवी सम्पत्तिके सब लक्षण आनेपर ही आप मिलते हैं या पहले भी?

भ०—यह कोई खास नियम नहीं है कि दैवी सम्पत्तिके सब गुण होने ही चाहिये, किन्तु अनन्य भक्ति अवश्य होनी चाहिये।

सा०—दैवी सम्पत्तिके गुण कम होनेपर भी आप केवल अनन्य भक्तिसे

मिलते हैं। तो फिर मिलनेके बाद दैवी सम्पत्तिके सब लक्षण आ जाते होंगे?

भ०—दैवी सम्पत्तिके लक्षण ही क्या और भी विशेष गुण आ जाते हैं।

सा०—वे विशेष गुण कौन-कौन-से हैं?

भ०—समता आदि (गीता १२। १३ से २० तक)।

सा०—वे लक्षण आपकी प्राप्ति होनेके पीछे ही आते हैं या पहले भी?

भ०—पहले भी कुछ आ जाते हैं किन्तु मेरी प्राप्ति होनेके बाद तो आ ही जाते हैं।

सा०—आपकी प्राप्तिके लिये मनुष्यका क्या कर्तव्य है?

भ०—यह तो बतला ही चुका कि केवल मेरी सब प्रकारसे शरण होना।

सा०—शरणमें भी आप स्वयं क्यों नहीं ले लेते?

भ०—किसीको जबरदस्ती शरणमें ले लेना मेरा कर्त्तव्य नहीं है, शरण होना तो मनुष्यका कर्तव्य है।

सा०—इस विषयमें विवेक-विचारसे जो शरण होना चाहता है उसको आप मदद देते हैं या नहीं?

भ०—जो सरल चित्तसे मदद माँगता है, उसको अवश्य देता हूँ।

सा०—जो आपकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे आपकी शरण होना चाहता है उसके साधनमें ऋद्धि, सिद्धि, देवता आदि विघ्न डाल सकते हैं या नहीं?

भ०—कोई भी विघ्न नहीं डाल सकते।

सा०—देखनेमें तो आता है कि आपकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको अनेक

विघ्नोंका सामना करना पड़ता है और उससे साधनमें रुकावटें भी पड़ जाती हैं।

भ०—वे सब प्रकारसे मेरी शरण नहीं हैं।

सा०—आपको प्राप्त होनेके बाद अणिमादि सिद्धियाँ भी उसमें आ जाती हैं क्या?

भ०—भक्तको इनकी आवश्यकता ही नहीं है।

सा०—यदि भक्त इच्छा करे तो भी ये प्राप्त हो सकती हैं या नहीं?

भ०—मेरा भक्त इन सबकी इच्छा करता ही नहीं और करे तो वह मेरा अनन्य भक्त ही नहीं।

सा०—आपकी प्राप्ति होनेके बाद आपके भक्तका क्या अधिकार होता है?

भ०—वह अपना कुछ भी अधिकार नहीं मानता है और न चाहता ही है।

सा०—उसके न चाहनेपर भी आप तो दे सकते हैं?

भ०—हाँ, मुझे आवश्यकता होती है तो दे देता हूँ।

सा०—आपको भी आवश्यकता?

भ०—हाँ, संसारमें जीवोंके कल्याणके लिये, जो धर्म और भक्तिके प्रचार करनेकी आवश्यकता है वही मेरी आवश्यकता है।

सा०—उस समय आप उसको कितना अधिकार देते हैं?

भ०—जितना मुझको उससे कार्य लेना होता है।

सा०—यह अधिकार क्या आप सभी भक्तोंको दे सकते हैं या किसी-किसीको?

भ०—उदासीनको छोड़कर जो प्रसन्नताके साथ लेना चाहता है उन सभीको यह अधिकार दे सकता हूँ।

सा०—धर्म, सदाचार और भक्तिके प्रचारार्थ पूर्ण अधिकार देनेके योग्य आप किसको समझते हैं? कैसे स्वभाववाले भक्तको आप पूरा अधिकार दे सकते हैं?

भ०—जिसका दूसरोंके हितके लिये अनायास ही सर्वस्वत्याग करनेका स्वभाव है, जिसमें सबका कल्याण हो, ऐसी स्वाभाविक वृत्ति सदासे चली आ रही है, और जो दूसरोंकी प्रसन्नतापर ही सदा प्रसन्न रहता है, ऐसे उदार स्वभाववाले परम दयालु प्रेमी भक्तको मैं अपना पूर्ण अधिकार दे सकता हूँ।

सा०—क्या आपकी प्राप्तिके बाद भी सबके स्वभाव एक-से नहीं होते।

भ०—नहीं, क्योंकि साधनकालमें जिसका जैसा स्वभाव होता है प्राय वैसा ही सिद्धावस्थामें भी होता है। किन्तु हर्ष, शोक, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्ताभाव सभीमें हो जाता है। एवं समता, शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी सबको समानभावसे ही होती है। तथा शास्त्राज्ञाके प्रतिकूल कर्म तो किसीके भी नहीं होते। किन्तु सारे कर्म (शास्त्रानुकूल क्रियाएँ) मेरी आज्ञाके अनुसार होते हुए भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

सा०—फिर उनकी बाहरी क्रियाओंमें अन्तर होनेमें क्या हेतु है?

भ०—किसीका एकान्तमें बैठकर साधन करनेका स्वभाव होता है और किसीका सेवा करनेका। स्वभाव, प्रारब्ध और बुद्धि भिन्न-भिन्न

होनेके कारण तथा देश-काल और परिस्थितिके कारण भी बाहरकी क्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

सा०—ऐसी अवस्थामें सबसे उत्तम तो वही है जिसको आप पूरा अधिकार दे सकते हों।

भ०—इसमें उत्तम-मध्यम कोई नहीं है। सभी उत्तम हैं। जिसके स्वभावमें स्वाभाविक ही काम करनेका उत्साह विशेष होता है उसके ऊपर कामका भार विशेष दिया जाता है।

सा०—आपके बतलाये हुए काममें तो सबको उत्साह होना चाहिये।

भ०—मेरे बतलाये हुए काममें उत्साह तो सभीको होता है किन्तु मैं उनके स्वभावके अनुसार ही कामका भार देता हूँ, किसीका स्वभाव मेरे पास रहनेका होता है तो मैं उसको बाहर नहीं भेजता। जिसका लोकसेवा करनेका स्वभाव होता है उसके जिम्मे लोकसेवाका काम लगाता हूँ। जिसमें विशेष उपरामता देखता हूँ उसके जिम्मे काम नहीं लगाता। जिसका जैसा स्वभाव और जैसी योग्यता देखता हूँ उसके अनुसार ही उसके जिम्मे काम लगाता हूँ।

सा०—किन्तु भक्तको तो ऐसा ही स्वभाव बनाना चाहिये जिससे आप निःसङ्कोच होकर उसके जिम्मे विशेष काम लगा सकें। अतः इस प्रकारका स्वभाव बनानेके लिये सबसे बढ़कर उपाय क्या है?

भ०—केवल एकमात्र मेरी अनन्य शरण ही।

सा०—अनन्य शरण किसे कहते हैं? कृपया बतलाइये।

भ०—गुण और प्रभावके सहित मेरे नाम और रूपका अनन्य भावसे निरन्तर चिन्तन करना, मेरा चिन्तन रखते हुए ही केवल मेरे प्रीत्यर्थ मेरी आज्ञाका पालन करना तथा मेरे किये हुए विधानमें हर समय प्रसन्न रहना।

सा०—प्रभो! आपका ध्यान (चिन्तन) करना मुझे भी अच्छा मालूम पड़ता है। किन्तु मन स्थिर नहीं होता। जल्दीसे इधर-उधर भाग जाता है। इसका क्या कारण है?

भ०—आसक्तिके कारण मनको संसारके विषय भोग प्रिय लगते हैं। तथा अनेक जन्मोंके जो संस्कार इकट्ठे हो रहे हैं वे मनको स्थिर नहीं होने देते।

सा०—जिनसे न तो मेरे किसी प्रयोजनकी सिद्धि होती है और न जिनमें मेरी आसक्ति ही है ऐसे व्यर्थ पदार्थोंका चिन्तन क्यों होता है?

भ०—मन स्वाभाविक ही चञ्चल है इसलिये उसे व्यर्थ पदार्थोंके चिन्तन करनेकी आदत पड़ी हुई है और उसे उनका चिन्तन रुचिकर भी है यह भी एक प्रकारकी आसक्ति ही है, इसलिये वह उनका चिन्तन करता है।

सा०—इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

भ०—मनकी सँभाल रखनी चाहिये कि वह मेरे रूपका ध्यान छोड़कर दूसरे किसी भी पदार्थोंका चिन्तन न करने पावे। इसपर भी यदि दूसरे पदार्थोंका चिन्तन करने लगे तो तुरंत इसे समझाकर

या बलपूर्वक वहाँसे हटाकर मेरे ध्यानमें लगानेकी पुनः-पुनः तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये ।

सा०—मनको दूसरे पदार्थोंसे कैसे हटाया जाय ?

प्र०—जैसे कोई बच्चा हाथमें चाकू या कैंची ले लेता है तो माता उसको समझाकर छुड़ा लेती है । यदि मूर्खताके कारण बच्चा नहीं छोड़ना चाहता तो माता उसे रोनेकी परवा न रखकर बलात्कारसे भी छुड़ा लेती है । वैसे ही इस मनको समझाकर दूसरे पदार्थोंका चिन्तन छुड़ाना चाहिये क्योंकि यह मन भी बालककी भाँति चञ्चल है । परिणाममें होनेवाली हानिपर विचार नहीं करता ।

सा०—यह तो मालूम ही नहीं पड़ता कि मन धोखा देकर कहाँ और कब किस चीजको चुपचाप जाकर पकड़ लेता है, इसके लिये क्या किया जाय ?

प्र०—जैसे माता बच्चेका बराबर ध्यान रखती है वैसे ही मनकी निगरानी रखनी चाहिये ।

सा०—मन बहुत ही चञ्चल, बलवान् और उद्दण्ड है, इसलिये इसका रोकना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है ।

प्र०—कठिन तो है, पर जितना तुम मानते हो उतना नहीं है, क्योंकि यह प्रयत्न करनेसे रुक सकता है । अतएव इसको कठिन मानकर निराश नहीं होना चाहिये । माता बच्चेकी रक्षा करनेमें कभी कठिनता नहीं समझती, यदि समझे तो उसका पालन ही कैसे हो ।

सा०—क्या मन सर्वथा बच्चेके ही समान है ?

भ०—नहीं। बच्चेसे भी बलवान् और उद्दण्ड अधिक है।

सा०—तब फिर इसका निग्रह कैसे किया जाय ?

भ०—निग्रह तो किया जा सकता है क्योंकि मनसे बुद्धि बलवान् है और बुद्धिसे भी तू अत्यन्त बलवान् है इसलिये जैसे माता अपनी समझदार लड़कीके द्वारा अपने छोटे बच्चेको समझाकर या लोभ देकर यदि वह नहीं मानता तो भय दिखलाकर भी अनिष्ट से बचाकर इष्टमें लगा देती है वैसे ही मनको बुद्धिके द्वारा भोगोंमें भय दिखाकर उसे इन नाशवान् और क्षणभङ्गुर सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर पुनः पुनः मुझमें लगाना चाहिये।

सा०—इस प्रकार चेष्टा करनेपर भी मैं अपनी विजय नहीं देख रहा हूँ।

भ०—यदि विजय न हो तो भी डटे रहो, घबड़ाओ मत। जब मेरी मदद है तो निराश होनेका कोई कारण ही नहीं है। विश्वास रक्खो कि लड़ते-लड़ते आखिरमें तुम्हारी विजय निश्चित है।

सा०—प्रभो! अब यह बतलाइये कि जब मैं आपका ध्यान करनेके लिये एकान्तमें बैठता हूँ तो निद्रा, आलस्य सताने लगते हैं इसके लिये क्या करना चाहिये ?

भ०—हल्का (लघु) और सात्त्विक तो भोजन करना चाहिये। शरीर-को स्थिर और सीधा रखते हुए एवं नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर पद्मासन या स्वस्तिकादि किसी आसनसे सुख-पूर्वक बैठना चाहिये तथा दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति-प्रार्थना

करनी चाहिये, एवं मेरे नाम, रूप, गुण, लीला और प्रभावकी जो तुमने महापुरुषोंसे सुने हैं या शास्त्रोंमें पढ़े हैं, उनका बारंबार कीर्तन और मनन करना चाहिये। ऐसा करनेसे सात्त्विक भाव होकर बुद्धिमें जागृति हो जाती है फिर तमोगुणके कार्य निद्रा और आलस्य नहीं आ सकते।

सा०—भगवन्! आपने गीतामें कहा है कि मेरा सर्वदा निरन्तर चिन्तन करनेसे मेरी प्राप्ति सुलभ है, क्योंकि मैं किये हुए साधनकी रक्षा और कमीकी पूर्ति करके बहुत ही शीघ्र संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ। किन्तु आप अपनी प्राप्ति जितनी सुलभ और शीघ्रतासे होनेवाली बतलाते हैं वैसी मुझे प्रतीत नहीं होती।

भ०—मेरा नित्य-निरन्तर चिन्तन नहीं होता है, इसीसे मेरी प्राप्ति तुम्हें कठिन प्रतीत होती है।

सा०—आपका कहना यथार्थ है। आपका निरन्तर चिन्तन करनेसे अवश्य आपकी प्राप्ति शीघ्र और सुगमतासे हो सकती है। किन्तु निरन्तर आपका चिन्तन होना ही तो कठिन है। उसके लिये क्या करना चाहिये?

भ०—मेरे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण ही निरन्तर मेरा चिन्तन करना कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें यह कठिन नहीं है।

सा०—आपका गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य क्या है? बतलाइये।

भ०—अतिशय समता, शान्ति, दया, प्रेम, क्षमा, माधुर्य, वात्सल्य, गम्भीरता, उदारता, सुहृदतादि मेरे गुण हैं। सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य और असम्भवको भी सम्भव कर देना आदि मेरा प्रभाव है। जैसे परमाणु, भाप, बादल, बूँदें और ओले आदि सब जल ही हैं, वैसे ही सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, व्यक्त, अव्यक्त, जड, चेतन, स्थावर, जंगम, सत्, असत् आदि जो कुछ भी है तथा जो इससे भी परे है वह सब मैं ही हूँ। यह मेरा तत्त्व है। मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, स्तवन आदिसे पापी भी परम पवित्र हो जाता है, यह विश्वास करना तथा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वत्र समभावसे स्थित गुप्त मनुष्यादि शरीरोंमें प्रकट होनेवाले और अवतार लेनेवाले परमात्माको पहचानना यह रहस्य है।

सा०—इन सबको कैसे जाना जाय ?

भ०—जैसे छोटा बच्चा आरम्भमें विद्या पढ़नेसे जी चुराता है किन्तु जब विद्या पढ़ते-पढ़ते उसके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको जान लेता है तो फिर बड़े प्रेम और उत्साहके साथ विद्याभ्यास करने लगता है तथा दूसरोंके छुड़ानेपर भी नहीं छोड़ना चाहता, वैसे ही सत्संगके द्वारा मेरे भजन, ध्यान आदिका साधन करते-करते मनुष्य मेरे गुण, प्रभाव, रहस्यको जान सकता है फिर उसे ऐसा आनन्द और शान्ति मिलती है कि वह छुड़ानेपर भी नहीं छोड़ सकता।

सा०—प्रभो ! क्या आपका निरन्तर चिन्तन रखते हुए आपकी आज्ञाके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा व्यापार भी हो सकता है ?

भ०—दृढ़ अभ्याससे हो सकता है। जैसे कछुएका अपने अण्डोंमें, गैयाका अपने छोटे बच्चेमें, कामीका स्त्रीमें, लोभीका धनमें, मोटर-ड्राइवरका सड़कमें, नटनीका अपने पैरोंमें ध्यान रहते हुए उनके शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा सब चेष्टाएँ भी होती हैं इसी प्रकार मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी आज्ञाके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा सब काम हो सकते हैं।

सा०—आपकी आज्ञा क्या है ?

भ०—सत् शास्त्र, महापुरुषोंके वचन, हृदयकी सात्त्विक स्फुरणाएँ—ये तीनों मेरी आज्ञाएँ हैं। इन तीनोंमें मतभेद प्रतीत होनेपर जहाँ दोकी एकता हो उसीको मेरी आज्ञा समझकर काममें लाना चाहिये।

सा०—जहाँ तीनोंका भिन्न भिन्न मत प्रतीत हो वहाँ क्या किया जाय ?

भ०—वहाँ महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

सा०—क्या इसमें शास्त्रोंकी अवहेलना नहीं होगी ?

भ०—नहीं, क्योंकि महापुरुष शास्त्रोंके विपरीत नहीं कह सकते। सर्वसाधारणके लिये शास्त्रोंका निर्णय करना कठिन है तथा इसका यथार्थ तात्पर्य देश और कालके अनुसार महात्मालोग ही जान सकते हैं। इसीलिये महापुरुष जो मार्ग बतलावें वही ठीक है।

सा०—केवल हृदयकी सात्त्विक स्फुरणाको ही भगवत्-आज्ञा मान लें तो क्या आपत्ति है ?

म०—मान सकते हो। किन्तु वह स्फुरणा शास्त्र या महापुरुषोंके वचनोंके अनुकूल होनी चाहिये। क्योंकि साधकको शास्त्रकी आवश्यकता है, नहीं तो अज्ञानवश कहीं राजसी, तामसी स्फुरणाको सात्त्विक माननेसे साधकमें उच्छृङ्खलता आकर उसका पतन हो सकता है।

सा०—यहाँ शास्त्रसे आपका क्या अभिप्राय है ?

म०—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि जो आर्य ग्रन्थ हैं, वे सभी शास्त्र हैं किन्तु यहाँपर भी मतभेद प्रतीत होनेपर श्रुतिको ही बलवान् समझना चाहिये। क्योंकि स्मृति, इतिहास, पुराणादिका आधार श्रुति ही है।

सा०—श्रुति, स्मृति आदि सारे शास्त्रोंका ज्ञान होना साधारण मनुष्योंके लिये कठिन है, ऐसी अवस्थामें उनके लिये क्या आधार है ?

म०—उन पुरुषोंको शास्त्रोंके ज्ञाता महापुरुषोंका आश्रय लेना चाहिये।

सा०—महापुरुष किसे माना जाय ?

म०—जिसको तुम अपने हृदयसे सबसे श्रेष्ठ मानते हो वे ही तुम्हारे लिये महापुरुष हैं।

सा०—प्रभो ! मेरी मान्यतामें भूल एवं उसके कारण मुझे धोखा भी तो हो सकता है।

म०—उसके लिये कोई चिन्ता नहीं। मेरे आश्रित जनकी मैं स्वयं सब प्रकारसे रक्षा करता हूँ।

सा०—प्रभो ! मैं महापुरुषकी जाँच किस आधारपर करूँ ? महापुरुषके लक्षण क्या हैं ?

भ०—गीताके दूसरे अध्यायमें श्लोक ५५ से ७१ तक स्थितप्रज्ञके नामसे अथवा छठे अध्यायमें श्लोक ७ से ९ तक योगीके नामसे या अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ तक भक्तिमान्के नामसे अथवा अध्याय १४ श्लोक २२से २५ तक गुणातीतके नामसे बतलाये हुए लक्षण जिस पुरुषमें हों वही महापुरुष हैं।

सा०—ऐसे महापुरुषोंका मिलना कठिन है। ऐसी परिस्थितिमें क्या करना चाहिये ?

भ०—ऐसी अवस्थामें सबके लिये समझनेमें सरल और सुगम सर्वशास्त्रमयी गीता ही आधार है जो कि अर्जुनके प्रति मेरे द्वारा कही गयी है।

सा०—प्रधानतासे गीतामें बतलाये हुए किन-किन श्लोकोंको लक्ष्यमें रख-कर साधक अपना गुण और आचरण बनावे ?

भ०—इसके लिये गीतामें बहुत-से श्लोक हैं, उनमेंसे मुख्यतया ज्ञानके नामसे बतलाये हुए अध्याय १३ के श्लोक ७ से ११ तक या दैवी सम्पत्तिके नामसे बतलाये हुए अध्याय १६ के श्लोक १ से ३ तक अथवा तपके नामसे बतलाये हुए अध्याय १७ के श्लोक १४ से १७ तकके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

सा०—प्रभो ! अब यह बतलाइये आपने कहा कि मेरे किये हुए विधानमें हर समय प्रसन्न रहना चाहिये। इसका क्या अभिप्राय है?

भ०—सुख-दु:ख, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय आदिकी प्राप्तिरूप मेरे किये हुए विधानको मेरा भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा ही सन्तुष्ट रहना।

सा०—इन सबके प्राप्त होनेपर सदा प्रसन्नता नहीं होती । इसका क्या कारण है ?

भ०—मेरे प्रत्येक विधानमें दया भरी हुई है, इसके तत्त्व और रहस्यको लोग नहीं जानते ।

सा०—स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि जो सांसारिक सुखदायक पदार्थ हैं वे सब मोह और आसक्तिके द्वारा मनुष्यको बाँधनेवाले हैं। इन सबको आप किस लिये देते हैं ? और इस विधानमें आप की दयाके रहस्यको जानना क्या है ?

भ०—जैसे कोई राजा अपने प्रेमीको अपने पास शीघ्र बुलानेके लिये मोटर आदि सवारी भेजता है वैसे ही मैं पूर्वकृत पुण्योंके फलस्वरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि सांसारिक पदार्थोंको दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये एवं सदाचार, सद्गुण और मुझमें प्रेम बढ़ाकर मेरे पास शीघ्र आनेके लिये देता हूँ । इस प्रकार समझना ही मेरी दयाके रहस्यको जानना है ।

सा०—स्त्री, पुत्र, धनादि सांसारिक पदार्थोंके विनाशमें आपकी दयाका तत्त्व और रहस्य क्या है ?

भ०—जैसे पतङ्ग आदि जन्तु रोशनीको देखकर मोह और आसक्तिके कारण उसमें गिरकर भस्म हो जाते हैं । और उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर दयालु मनुष्य उस रोशनीको बुझा देता है, ऐसा करनेमें यद्यपि वे जीव नहीं जानते तो भी उसकी उनके ऊपर महान् दया ही होती है । इसी प्रकार मनुष्यको भोग

और आसक्तिके द्वारा बाँधकर नरकमें डालनेवाले इन पदार्थोंका नाश करनेमें भी मेरी महान् दया ही समझनी चाहिये।

सा०—आप मनुष्यको आरोग्यता, बल और बुद्धि आदि किस लिये देते हैं?

भ०—सत्संग, सेवा और निरन्तर भजन-ध्यानके अभ्यासद्वारा मेरे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझनेके लिये।

सा०—व्याधि और संकट आदिकी प्राप्तिमें आपकी दयाका दर्शन कैसे करें?

भ०—व्याधि और संकट आदिके भोगद्वारा पूर्वकृत किये हुए पापरूप ऋणसे मुक्ति तथा दुःखका अनुभव होनेके कारण भविष्यमें पाप करनेमें रुकावट होती है। मृत्युका भय बना रहनेसे शरीरमें वैराग्य होकर मेरी स्मृति होती है। इसके अतिरिक्त यदि व्याधिको परम तप समझकर सेवन किया जाय तो मेरी प्राप्ति भी हो सकती है। ऐसा समझना मेरी दयाका दर्शन करना है।

सा०—महापुरुषोंके संगमें आपकी दया प्रत्यक्ष है, किन्तु उनके वियोगमें आपकी दया कैसे समझी जाय?

भ०—प्रकाशके हटानेसे ही मनुष्य प्रकाशके महत्त्वको समझता है। इसलिये महापुरुषोंसे पुनः मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करने और उनमें प्रेम बढ़ानेके लिये एवं उनकी प्राप्ति दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण है इस बातको जाननेके लिये ही मैं उनका वियोग देता हूँ ऐसा समझना चाहिये।

सा०—कुसंगके दोषोंसे बचानेके लिये आप दुष्ट दुराचारी पुरुषोंका वियोग देते हैं इसमें तो आपकी दया प्रत्यक्ष है, किन्तु बिना इच्छा आप उनका संग क्यों देते हैं?

प्र०—दुराचारसे होनेवाली हानियोंका दिग्दर्शन कराकर दुर्गुण और दुराचारोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये मैं ऐसे मनुष्योंका संग देता हूँ। किन्तु स्मरण रखना चाहिये, जो जान-बूझकर कुसंग करता है वह मेरा दिया हुआ नहीं है।

सा०—सर्वसाधारण मनुष्योंके संयोग और वियोगमें आपकी दया कैसे देखें?

प्र०—उनमें दया और प्रेम करके उनकी सेवा करनेके लिये तो संयोग एवं उनमें वैराग्य करके एकान्तमें रहकर निरन्तर भजन ध्यानका साधन करनेके लिये वियोग देता हूँ, ऐसा समझना ही मेरी दयाका देखना है।

सा०—नीति-धर्म और भजन-ध्यानमें बाधा पहुँचानेवाले मामले-मुकदमे आदि झंझटोंमें आपकी दयाका अनुभव कैसे करें?

प्र०—नीति-धर्म, भजन-ध्यान आदिमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय तथा कमजोरीके कारण ही बाधा आती है। जो मनुष्य न्याय-से प्राप्त हुए मुकदमे आदि झंझटोंको मेरा भेजा हुआ पुरस्कार मानकर नीति और धर्म आदिसे विचलित नहीं होता है उसमें आत्मबलको बढ़ानेवाले धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि गुणोंकी

वृद्धि होती है, यह समझना ही मेरी दयाका अनुभव करना है।

सा०—भक्तकी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठादिको आप क्यों हर लेते हैं, इसमें क्या रहस्य है ?

भ०—अज्ञानरूपी निद्रासे जगाने एवं साधनकी रुकावटको दूर करने तथा दम्भको हटाकर सच्ची भक्ति बढ़ानेके लिये ही मैं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको हर लेता हूँ। यही रहस्य है।

सा०—आपकी विशेष दया क्या है ?

भ०—मेरे भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग, सद्गुण और सदाचार आदि की जो स्मृति, इच्छा और प्राप्ति होती है—यह विशेष दया है।

सा०—जब ऐसा है तब कर्मोंके अनुसार आपके किये हुए इन सब विधानोंको आपका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये।

भ०—बात तो ऐसी ही है किन्तु लोग समझते कहाँ हैं।

सा०—इसके समझनेके लिये क्या करना चाहिये ?

भ०—गुण और प्रभावके सहित मेरे नामरूपका अनन्यभावसे निरन्तर चिन्तन तथा मेरा चिन्तन रखते हुए ही मेरी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण और मेरी दयाके रहस्यको जाननेवाले सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश

परमात्माकी शरणमें प्राप्त हुए पुरुषका मन परमात्मासे प्रार्थना करता है—

हे प्रभो ! हे विश्वम्भर ! हे दीनदयालो ! हे कृपासिन्धो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे पतितपावन ! हे सर्वशक्तिमान् ! हे दीनबन्धो ! हे नारायण ! हे हरे ! दया करिये, दया करिये । हे अन्तर्यामिन् ! आपका नाम संसारमें दयासिन्धु और सर्वशक्तिमान् विख्यात है, इसलिये दया करना आपका काम है ।

हे प्रभो ! यदि आपका नाम पतितपावन है तो एक बार आकर दर्शन दीजिये । मैं आपको बारंबार प्रणाम करके विनय करता हूँ, हे प्रभो ! दर्शन देकर कृतार्थ करिये । हे प्रभो ! आपके बिना इस संसारमें मेरा और कोई भी नहीं है, एक बार दर्शन दीजिये, दर्शन दीजिये, विलम्ब न तरसाइये । आपका नाम विश्वम्भर है, फिर मेरी आशाको क्यों नहीं पूर्ण करते हैं । हे करुणामय ! हे दयासागर ! दया करियें । आप दयाके समुद्र हैं, इसलिये किञ्चित् दया करनेसे आप दयासागरमें कुछ दयाकी त्रुटि नहीं हो जायगी । आपकी किञ्चित् दयासे सम्पूर्ण संसारका उद्धार हो सकता है, फिर एक तुच्छ जीवका उद्धार करना

आपके लिये कौन बड़ी बात है? हे प्रभो! यदि आप मेरे कर्तव्यको देखें तब तो इस संसारसे मेरा निस्तार होनेका कोई उपाय ही नहीं है। इसलिये आप अपने पतितपावन नामकी ओर देखकर इस तुच्छ जीवको दर्शन दीजिये। मैं न तो कुछ भक्ति जानता हूँ, न योग जानता हूँ, तथा न कोई क्रिया ही जानता हूँ, जो कि मेरे कर्तव्यसे आपका दर्शन हो सके। आप अन्तर्यामी होकर यदि दयासिन्धु नहीं होते तो आपको संसारमें कोई दयासिन्धु नहीं कहता, यदि आप दयासागर होकर भी अन्तरकी पीड़ाको न पहचानते तो आपको कोई अन्तर्यामी नहीं कहता। दोनों गुणोंसे युक्त होकर भी यदि आप सामर्थ्यवान् न होते तो आपको कोई सर्वशक्तिमान् और सर्वसामर्थ्यवान् नहीं कहता। यदि आप केवल भक्तवत्सल ही होते तो आपको कोई पतितपावन नहीं कहता। हे प्रभो! हे दयासिन्धो!! एक बार दया करके दर्शन दीजिये॥ १॥

जीवात्मा अपने मनसे कहता है—

रे दुष्ट मन! कपटभरी प्रार्थना करनेसे क्या अन्तर्यामी भगवान् प्रसन्न हो सकते हैं? क्या वे नहीं जानते कि ये सब तेरी प्रार्थनाएँ निष्काम नहीं हैं? एवं तेरे हृदयमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम कुछ भी नहीं है? यदि तेरेको यह विश्वास है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं तो फिर किसलिये प्रार्थना करता है? बिना प्रेमके मिथ्या प्रार्थना करनेसे भगवान् कभी नहीं सुनते और यदि प्रेम है तो फिर कहनेसे प्रयोजन ही क्या है? क्योंकि भगवान्‌ने तो स्वयं ही श्रीगीताजीमें कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(४ । ११)

'जो मेरेको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ ।' तथा—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

'जो भक्त मेरेको भक्तिसे भजते हैं वे मेरेमें हैं और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ * ।'

रे मन ! हरि दयासिन्धु होकर भी यदि दया न करें तो भी कुछ चिन्ता नहीं, अपनेको तो अपना कर्तव्यकार्य करते ही रहना चाहिये । हरि प्रेमी हैं, वे प्रेमको पहचानते हैं । प्रेमके विषयको प्रेमी ही जानता है, वे अन्तर्यामी भगवान् क्या तेरे शुष्क प्रेमसे दर्शन दे सकते हैं ? जब विशुद्ध प्रेम और श्रद्धा-विश्वासरूपी डोरी तैयार हो जायगी तो उस डोरीद्वारा बँधे हुए हरि आप-ही-आप चले आवेंगे । रे मूर्ख मन ! क्या मिथ्या प्रार्थनासे काम चल सकता है ? क्योंकि हरि अन्तर्यामी हैं । रे मन ! तेरेको नमस्कार है, तेरा काम संसारमें चक्कर लगानेका है सो जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा । तेरे ही संगके कारण मैं इस असार संसारमें अनेक दिन फिरता रहा, अब हरिके चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करनेसे तेरा सम्पूर्ण कपट जाना गया । तू मेरे लिये कपटभाव और अति दीन वचनोंसे भगवान्से प्रार्थना करता है ।'

---

* जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्याप्त हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है ।

परन्तु तू नहीं जानता कि हरि अन्तर्यामी हैं। श्रीयोगवाशिष्ठमें ठीक ही लिखा है कि मनके अमन हुए बिना अर्थात् मनका नाश हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती। वासनाका क्षय, मनका नाश और परमेश्वरकी प्राप्ति—यह तीनों एक ही कालमें होते हैं। इसलिये तेरेसे विनय करता हूँ कि तू यहाँसे अपने भावनेसहित चला जा, अब यह पक्षी तेरी मायारूपी फाँसीमें नहीं फँस सकता क्योंकि इसने हरिके चरणोंका आश्रय लिया है। क्या तू अपनी दुर्दशा कराके ही जायगा? अहो! कहाँ यह माया! कहाँ काम-क्रोधादि शत्रुगण? अब तो तेरी सम्पूर्ण सेनाका क्षय होता जाता है, इसलिये अपना प्रभाव पड़नेकी आशाको त्यागकर जहाँ इच्छा हो चला जा॥ २॥

भक्त फिर परमात्मासे प्रार्थना करता है—

प्रभो! प्रभो! दया करिये, हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ। हे शरणागतप्रतिपालक! शरण आयेकी लज्जा रखिये। हे प्रभो! रक्षा करिये, रक्षा करिये, एक बार आकर दर्शन दीजिये। आपके बिना इस संसारमें मेरेलिये कोई भी आधार नहीं है, अतएव आपको बारंबार नमस्कार करता हूँ, प्रणाम करता हूँ, विलम्ब न करिये, शीघ्र आकर दर्शन दीजिये। हे प्रभो! हे दयासिन्धो!! एक बार आकर दासकी सुध लीजिये।

आपके न आनेसे प्राणोंका आधार कोई भी नहीं दीखता। हे प्रभो! दया करिये, दया करिये, मैं आपकी शरण हूँ, एक बार मेरी ओर दयादृष्टिसे देखिये। हे प्रभो! हे दीनबन्धो!! हे

दीनदयालो !!! विशेष न तरसाइये, दया करिये । मेरी दुष्टताकी ओर न देखकर अपने पतितपावन स्वभावका प्रकाश करिये ॥ ३ ॥

जीवात्मा अपने मनसे फिर कहता है—

रे मन ! सावधान ! सावधान ! किसलिये व्यर्थ प्रलाप करता है । वे श्रीसच्चिदानन्दघन हरि झूठी विनती नहीं चाहते । अब तेरा कपट यहाँ नहीं चलेगा, तू मेरेलिये क्यों हरिसे कपटभरी प्रार्थना करता है ? ऐसी प्रार्थना मैं नहीं चाहता, तेरी जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा ।

यदि हरि अन्तर्यामी हैं तो प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है ? यदि वे प्रेमी हैं तो बुलानेकी क्या आवश्यकता है ? यदि वे विश्वम्भर हैं तो माँगनेकी क्या आवश्यकता है ? तेरेको नमस्कार है, तू यहाँसे चला जा, चला जा ॥ ४ ॥

जीवात्मा अपनी बुद्धि और इन्द्रियोंसे कहता है—

हे इन्द्रियो ! तुमको नमस्कार है, तुम भी जाओ, जहाँ वासना होती है वहीं तुम्हारा टिकाव होता है । मैंने हरिके चरणकमलोंका आश्रय लिया है, इसलिये अब तुम्हारा दाव नहीं चलेगा । हे बुद्धे ! तेरेको भी नमस्कार है, पहले तेरा ज्ञान कहाँ गया था जब कि तू मेरेको संसारमें डूबनेके लिये शिक्षा दिया करती थी ? क्या वह शिक्षा अब लग सकती है ? ॥ ५ ॥

जीवात्मा परमात्मासे कहता है—

हे प्रभो ! आप अन्तर्यामी हैं, इसलिये मैं नहीं कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये, क्योंकि यदि मेरा पूर्ण प्रेम होता तो क्या आप ठहर सकते ? क्या वैकुण्ठमें लक्ष्मी भी आपको अटका सकती ? यदि मेरी आपमें पूर्ण श्रद्धा होती—तो क्या आप विलम्ब करते ! क्या यह प्रेम और विश्वास आपको छोड़ सकता ! अहो ! मैं व्यर्थ ही संसारमें निष्कामी और निर्वासनिक बना हुआ हूँ और व्यर्थ ही अपनेको आपके शरणागत मानता हूँ । परन्तु कोई चिन्ता नहीं, जो कुछ आकर प्राप्त हो उसीमें मुझे प्रसन्न रहना चाहिये । क्योंकि ऐसे ही आपने श्रीगीताजीमें कहा है* । इसलिये आपके चरणकमलोंकी प्रेमभक्तिमें मग्न रहते हुए यदि मेरेको नरक भी प्राप्त हो तो यह भी स्वर्गसे बढ़कर है । ऐसी दशामें मेरेको क्या चिन्ता ? जब मेरा आपमें प्रेम होगा तो क्या आपका नहीं होगा ? जब मैं आपके दर्शन बिना नहीं ठहर सकूँगा उस समय क्या आप ठहर सकेंगे ? आपने तो स्वयं श्रीगीताजीमें कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

---

* यदृच्छालाभसंतुष्टः (गीता ४ । २२) संतुष्टो येन केनचित् (गीता १२ । १९)

'जो मेरेको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' अतएव मैं नहीं कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये। और आपको भी क्या पड़ी है, परन्तु कोई चिन्ता नहीं, आप जैसा उचित समझें वैसा ही करें, आप जो कुछ करें उसीमें मुझको आनन्द मानना चाहिये ॥ ६ ॥

जीवात्मा ज्ञाननेत्रोंद्वारा परमेश्वरका ध्यान करता हुआ आनन्दमें विह्वल होकर कहता है—

अहो! अहो! आनन्द! आनन्द! प्रभो! प्रभो! क्या आप पधारे? धन्य भाग्य! धन्य भाग्य! आज मैं पतित भी आपके चरणकमलोंके प्रभावसे कृतार्थ हुआ। क्यों न हो आपने स्वयं श्रीगीताजीमें कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(९।३०-३१)

'यदि (कोई) अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त

हुआ मेरेको (निरन्तर) भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।'

'इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता' ॥ ७ ॥

जीवात्मा परमात्माके आश्चर्यमय सगुणरूपको ध्यानमें देखता हुआ अपने मन-ही-मनमें उनकी शोभा वर्णन करता है।

अहो ! कैसे सुन्दर भगवान्‌के चरणारविन्द हैं कि जो नीलमणिके ढेरकी भाँति चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं। चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ जिनपर रत्नजड़ित सुवर्णके नूपुर शोभायमान हैं। जैसे भगवान्‌के चरणकमल हैं वैसे ही जानु और जङ्घादि अङ्ग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके भीतरसे चमक रहे हैं। अहो ! सुन्दर चार भुजाएँ कैसी शोभायमान हैं। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें तो शङ्ख और चक्र एवं नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं। चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि सुन्दर सुन्दर आभूषण सुशोभित हैं। अहो ! भगवान्‌का वक्षःस्थल कैसा सुन्दर है कि जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न विराजमान है तथा नीलकमलके सदृश वर्णवाली भगवान्‌की

ग्रीवा भी कैसी सुन्दर है जिसमें रत्नजड़ित हार और कौस्तुभमणि विराजमान हैं एवं मोतियोंकी और वैजयन्ती तथा सुवर्णकी और भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी मालाएँ सुशोभित हैं । सुन्दर ठोढ़ी, लाल ओष्ठ और भगवान्‌की अतिशय सुन्दर नासिका है जिसके अग्रभागमें मोती विराजमान है । भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके पुष्पकी भाँति खिले हुए हैं । कानोंमें रत्नजड़ित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारी तिलक एवं शीशपर रत्नजड़ित किरीट (मुकुट) शोभायमान है । अहो ! भगवान्‌का मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति गोल-गोल कैसा मनोहर है जिसके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें देदीप्यमान हैं । जिनके प्रकाशसे मुकुटादि सम्पूर्ण भूषणोंके रत्न चमक रहे हैं । अहो ! आज मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ कि जो मन्द-मन्द हँसते हुए आनन्दमूर्ति हरि भगवान्‌का दर्शन कर रहा हूँ ॥ ८ ॥

इस प्रकार आनन्दमें विह्वल हुआ जीवात्मा ध्यानमें अपने स्वमुख सवा हाथकी दूरीपर बारह वर्षकी सुकुमार अवस्थाके रूपमें भूमिसे सवा हाथ ऊँचे आकाशमें विराजमान परमेश्वरको देखता हुआ उनकी मानसिक पूजा करता है ।

इस मन्त्रको बोलकर सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंकी अञ्जलि भरकर श्रीहरि भगवान्‌के मस्तकपर छोड़ना ॥ १६ ॥

फिर चार प्रदक्षिणा करके श्रीनारायणदेवको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना ॥ ९ ॥

उक्त प्रकारसे श्रीहरि भगवान्‌की मानसिक पूजा करनेके पश्चात् उनको अपने हृदय-आकाशमें शयन कराके जीवात्मा अपने मन-ही-मनमें श्रीभगवान्‌के स्वरूप और गुणोंका वर्णन करता हुआ बारबार सिरसे प्रणाम करता है—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

'जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र विष्णु भगवान्‌को मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ।'

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका

श्रीशेषशायी

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वके

पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वियोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जो गम्भीर हैं, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं कर सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवलमात्र कल्पना ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे अनुपमेय श्रीहरि भगवान्को मेरा बारंबार नमस्कार है ।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णु भगवान् मन्द-मन्द मुसकुरा रहे हैं, जिनके सारे अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई शोभा देती हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्को मेरा बारंबार नमस्कार है ॥ १० ॥

जीवात्मा मन-ही-मनमें श्रीहरि भगवान्को पंखेसे हवा करता हुआ एवं उनके चरणोंकी सेवा करता हुआ उनकी स्तुति करता है—

अहो ! हे प्रभो ! आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही महेश हैं, आप ही सूर्य हैं, आप ही चन्द्रमा और तारागण हैं, आप ही भूर्भुवः स्वः तीनों लोक हैं तथा सातों द्वीप और चौदह भुवन आदि जो कुछ भी है, सब आपहीका स्वरूप है, आप ही विराट्स्वरूप हैं, आप ही हिरण्यगर्भ हैं, आप ही चतुर्भुज हैं और मायातीत शुद्ध ब्रह्म भी आप ही हैं, आपहीने अपने अनेक रूप धारण किये हैं, इसलिये सम्पूर्ण संसार आपहीका स्वरूप है तथा द्रष्टा, दृश्य, दर्शन जो कुछ भी है सो सब आप ही हैं* । अतएव—

* 'एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः' (विष्णुसहस्रनाम) 'महान् भूत पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाला'

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिभूत पृथ्वीको धारण करनेवाले और युग-युगमें प्रकट होनेवाले अनन्त रूपधारी (आप) विष्णु भगवान्‌के लिये नमस्कार है।'

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या और आप ही धन हैं, हे देवोंके देव! आप ही मेरे सर्वस्व हैं'॥ ११॥

उक्त प्रकारसे परमात्माकी प्रेम-भक्तिमें लगे हुए पुरुषका जब परमात्मामें अतिशय प्रेम हो जाता है, उस कालमें उसको अपने शरीरादिकी भी सुधि नहीं रहती, जैसे सुन्दरदासजीने प्रेम-भक्तिका लक्षण करते हुए कहा है—

इन्दव छन्द

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों, तब भूलि गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरै जित ही तित, नेकु रही न शरीर सँभारा॥
श्वास उसास उठे सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
'सुन्दर' कौन करै नवधा विधि, छाकि परयो रस पी मतवारा॥

एक ही विष्णु अनेक रूपसे स्थित है।' तथा 'एकोऽहं बहु स्याम्' (इति श्रुति) (सृष्टिके आदिमें भगवानने संकल्प किया कि) मैं एक ही बहुत रूपोंमें होऊँ।'

नाराच छन्द

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यो करे ।
न शङ्क भूत प्रेतकी, न देव यक्षतें डरे ॥
सुने न कान औरकी, द्रसे न और इच्छना ।
कहै न मुख और बात, भक्ति-प्रेम लच्छना ॥

बीजुमाला छन्द

प्रेम अधीनो छाक्यो डोले, क्योंकि क्योंही वाणी बोले ।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा ॥

मनहर छन्द

नीर बिनु मीन दुःखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे,
पीरकी औषधि बिनु, कैसे रह्यो जात है ।
चातक ज्यों स्वातिबूँद, चन्दको चकोर जैसे,
चन्दनकी चाह करि, सर्प अकुलात है ॥
निर्धन ज्यों धन चाह, कामिनीको कन्त चाहै,
ऐसी जाके चाह ताहि, कछु न सुहात है ।
प्रेमको प्रवाह ऐसो, प्रेम तहाँ नेम कैसो,
'सुन्दर' कहत यह, प्रेमहीकी बात है ॥

छप्पय छन्द

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै, रोवन फिर लागे ।
कबहुँक गद्गदकण्ठ, शब्द निकसे नहिं आगे ॥
कबहुँक हृदय उमङ्ग, बहुत ऊँचे स्वर गावे ।
कबहुँक है मुख मौन, गगन ऐसे रहि जावे ॥

चित चित हरिसों लग्यो, सावधान कैसे रहै।
यह प्रेम-लक्षणा भक्ति है, शिष्य सुनहु 'सुन्दर' कहै ॥१२॥

सगुण भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर जीवात्मा शुद्ध सच्चिदानन्दघन-सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें मग्न हुआ कहता है—

अहो ! आनन्द ! आनन्द ! अति आनन्द ! सर्वत्र एक वासुदेव-ही-वासुदेव व्याप्त है* ! अहो ! सर्वत्र एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है !

कहाँ काम, कहाँ क्रोध, कहाँ लोभ, कहाँ मोह, कहाँ मद, कहाँ मत्सरता, कहाँ मान, कहाँ क्षोभ, कहाँ माया, कहाँ मन, कहाँ बुद्धि, कहाँ इन्द्रियाँ, सर्वत्र एक सच्चिदानन्द-ही-सच्चिदानन्द व्याप्त है। अहो ! अहो ! सर्वत्र एक सत्यरूप, चेतनरूप, आनन्दरूप, घनरूप, पूर्णरूप, ज्ञानरूप, कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, सनातन, परब्रह्म, परम अक्षर, परिपूर्ण, अनिर्देश्य, नित्य, सर्वगत, अचल, ध्रुव, अगोचर, मायातीत, अगाध, आनन्द, परमानन्द, महानन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न कुछ भी नहीं है ॥ १३ ॥

इति शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

---

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (गीता ७ । १९)

'(जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

ॐ नारायण

एक संतका अनुभव

मूल्य -) एक आना

श्रीहरिः

निवेदन

कुछ दिनों पूर्व साधु-सग-लाभके लिये मैं ऋषिकेश गया था। वहाँ स्वर्गाश्रममें 'श्रीनारायण स्वामीजी'के दर्शन हुए। आप अमीर-घरानेमें पैदा हुए एक उच्च शिक्षित पुरुष हैं। इस समय निरन्तर श्री 'नारायण' नामका जप करते हैं, चौबीसों घंटे मौन रहते हैं। केवल सवा दो घंटे सोते हैं। अपने पास कुछ भी संग्रह नहीं रखते। कमरमें एक डोरी बाँध रक्खी है, उसीके सहारे टाटके टुकड़ेका कौपीन लगाये रहते हैं। भगवान् और भगवत्-प्रेमकी बातें होते ही आपके नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं। इस समय रातको आप 'विनय-पत्रिका' सुना करते हैं। 'सस्तुं साहित्यवर्धक कार्यालय' अहमदाबादके प्रसिद्ध स्वामी अखण्डानन्दजी कहते थे कि उस समय आपके

चेहरेपर प्रेमके जो भाव प्रकट होते हैं वे देखने ही योग्य होते हैं। हम लोगोंके अनुरोध करनेपर आपने अपने जीवनकी कुछ बातें रातको मानसिक भजनमेंसे समय निकालकर उर्दूमें लिखनेकी कृपा की। आपने लिखकर बताया कि 'इसमें जो कुछ भी साधन लिखे गये हैं, वे सब मैं अपने जीवनमें कर चुका हूँ या कर रहा हूँ। इसमें ऐसी कोई बात नहीं लिखी गयी है जिसका मुझे स्वयं अनुभव न हो।' आपके उर्दू लेखको हिन्दीमें आपके सामने ही होशियारपुरके एडवोकेट लाला अयोध्याप्रसादजी और बुलन्दशहरके पं॰ हरिप्रसादजीने मुझको लिखवा दिया था। हिन्दीमें लिखवाते समय स्वामीजीके चेहरेपर प्रेमभावका विकास देखकर सबको बड़ा आनन्द होता था।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मेरा अनुभव

बोलनेमें जितना जल्दी कहा जा सकता है, लिखनेमें उसकी अपेक्षा बहुत अधिक समय लगता है, परन्तु श्रीमान् भगवद्भक्त श्रीजयदयालजी और श्रीमान् हनुमानप्रसाद पोद्दार सम्पादक 'कल्याण' की प्रेरणासे थोड़ा हाल, जो इस पापी जीवने गृहस्थाश्रम और त्याग-अवस्थामें भजन एवं दूसरे साधनोंको करके अनुभव किया है, लिखता हूँ। भक्तजन जो इसको पढ़ें, भूल न जायँ, याद रक्खें और प्रेमसे अभ्यास करें। इस दासने रातके समय अपना भजन बंद करके अमूल्य समय इसके लिखनेमें व्यय किया है।

इस शरीरका चैत्र सुदी १५ ता० २० अप्रैल सन् १८८० ई० को कायस्थ माथुरकुलके अमीर-घराने और सम्भ्रान्त-वंशमें मुरादाबादमें जन्म हुआ था, इस वंशके पूर्वज बादशाहके यहाँ किसी प्रान्तमें दीवान थे। तीव्र वैराग्य होनेपर गृहस्थी छोड़ते समय यह खयाल हुआ कि भीख कैसे माँगेंगे, बहुत शर्म मालूम होगी। दूसरी बात यह है कि गुरु मिलना चाहिये।

इसी खयालमें था कि भगवान्‌ने एक साधुको मेरे पास भेजा, उन्होंने कहा, 'बद्रीनारायणसे आये हैं।' उनसे मैंने बातचीत की तो कहा कि 'हमारे पास एक ऐसी जड़ी है, जिसके रोज खानेसे भूख बिलकुल नहीं लगती। चाँवलके दानेके बराबर रोज सुबहके वक्त जीभपर रखकर इसका रस उतार जाय। गरम बहुत है, बद्रीनारायणमें पैदा होती है।' फिर कहा कि 'यह बात किसीसे कहना नहीं, कहोगे तो इसका फल जाता रहेगा।'

जड़ी लेकर मैं बहुत खुश हुआ और दूसरे रोज ही रवाना होकर हरिद्वार आया। जो सामान पास था, दे दिया और त्याग करके ऋषिकेश आ गया। म्हात रोजतक यह जड़ी खाता रहा, बिल्कुल भूख नहीं लगी। पर शरीर बहुत कमजोर हो गया था, बैठने उठनेकी ताकत भी नहीं रही थी और भजनमें भी विक्षेप पड़ता था। इस कारण उसको छोड़ दिया और यह समझकर कि भिक्षा करना साधुका धर्म है, क्षेत्रमें जाकर भिक्षा माँग लाता और गङ्गा-किनारे बैठकर खा लेता।

अब दूसरा खयाल यह हुआ करता था कि गुरुकी बहुत तलाश की, अबतक नहीं मिले, गुरु बिना संन्यास कैसा! इसलिये यह निश्चय किया कि इस शरीरको गङ्गाजीमें डालकर छोड़ देना चाहिये। इसी खयालमें था कि एक दिन रातको स्वप्नमें मानो पहाड़के ऊपर मैं खड़ा था कि उसी समय भाबु

भेषमें भगवान् आये और कहा कि 'तुम्हारे गुरु बद्रीनारायण हम हैं।' एक कौपीन और एक कम्बल मुझको देकर कहा कि "'नारायण' 'नारायण' कहो, परमहंस हो जाओ।" इसके बाद फिर कुछ नहीं देखा। मैं खुश होकर ऋषिकेशसे गङ्गोत्तरी-केदारनाथ होता हुआ बद्रीनारायण पहुँचा और वहाँ गुरुमहाराजके दर्शन किये। फिर स्वप्नमें आज्ञा हुई कि चारों धाम करके नर्मदा-किनारे आकर भजन करो। गुरुमहाराजके आज्ञानुसार चारों धाम करके नर्मदा-किनारे पहुँचा और भजन-संख्या धीरे-धीरे बढ़ाता रहा एवं जो साधन नीचे लिखे हैं, करता रहा।

पूर्वके जीवन अथवा गृहस्थ आश्रमके हालातसे अब मुझको नफरत हो गयी है, और दूसरे कारण भी हैं इसलिये उनको लिखना मैं पसंद नहीं करता। क्षमा चाहता हूँ। यही मेरा जीवन-चरित्र है और मेरी धारणा ही उपदेश है। परमहंस-भेष को आजतक सात वर्ष दो महीने चौबीस दिन हुए हैं।

भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें निम्नलिखित चार खम्भे धर्मके बतलाये हैं—

१, सत्य।
२, तप।
३, दया।
४, दान।

(१) सत्य बोलनेके साधन

१—मौन धारण करना—गृहस्थके कार्योंमें जो अधिक समय न मिले तो सुबहके वक्त स्नान करनेके बाद दो-चार घण्टे तो पूजन-पाठ करनेमें मौन अवश्य रखना चाहिये।

२—कम बोलना—आजकल वृथा भाषण करनेका बहुत रिवाज है, इसको छोड़ना। ज़रूरतके वक्त बात करना, या ज्ञानचर्चा करना हो तो बोलना।

३—एकान्त—सम्बन्धियों या दोस्तोंसे कम मिलना, घरमें जाकर भी अलग कमरेमें बैठना और कोई धार्मिक पुस्तक देखना या जगत्की असत्यतापर विचार करना।

४—अखबार कभी नहीं देखना—दुनियाभरकी खबर मालूम होनेसे व्यर्थ बातोंमें मनकी स्फुरणा बढ़ती है, दूसरोंको यह खबरें सुनानेमें झूठ-सच बोलना पड़ता है। बेकार वक्त बरबाद होता है। धार्मिक अखबार देखनेमें कभी हर्ज नहीं।

५—किसीको वचन देना तो सोचकर देना और उसे ज़रूर पूरा करना। जैसे आपने किसीसे कहा कि मैं शामको पाँच बजे अमुक स्थानपर मिलूँगा तो अवश्य पाँच बजेसे दो चार मिनट पहले ही वहाँ पहुँच जाना चाहिये।

६—रातको सोते वक्त यह विचार करना चाहिये कि आज सुबहसे इस समयतक मैं कहाँ-कहाँ झूठ बोला और मैंने

कौन-कौन-से पाप किये। सोते वक्ततकका इतिहास मस्तकमें लाकर मनको, बुरे कर्म, जो आज किये हैं, कल न करनेके लिये बहुत समझाना, ऐसा करनेसे झूठ बोलने और बुरे कर्म करनेमें रुकावट होगी। ऐसा करनेमें चार-छः दिन तो आलस्य मालूम होगा फिर अभ्यास हो जानेपर बहुत आनन्द आयेगा।

उपर्युक्त साधन करनेसे सत्य बोलनेका अभ्यास बहुत जल्दी हो जायगा।

प्रत्येक पूर्णिमाको सत्यनारायणकी कथा करवानी चाहिये। कथा करवानेवालेको उपवास रखना चाहिये।

सत्य श्रीनारायणका स्वरूप है। भजन करनेवालेको सबसे पहले यह साधन करना चाहिये। सत्य बोलनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। बारह वर्षतक सत्य बोलनेवालेकी वचन सिद्धि हो जाती है। सत्य बोलनेसे बुरे कर्म होने बंद हो जाते हैं। चिन्ता कम हो जाती है। सब कर्म नीति और शास्त्रके अनुसार होने लगते हैं। दुनियाके लोग उसकी बहुत इज्जत करते हैं, उसकी बातपर विश्वास करते हैं। व्यापारमें सत्य बोलनेसे बहुत लाभ होता है। सत्य बोलनेवालेपर भगवान् खुश होते हैं और उसकी सहायता करते हैं।

सत्य बोलनेसे यदि किसी अवसरपर नुकसान या तकलीफ भी हो जाय तो उसे सहन करना चाहिये। कलियुगका स्वरूप

असत्य है । इसलिये आजकल झूठ अधिक फलीभूत होता दीखता है परन्तु उसका परिणाम बहुत बुरा है ।

झूठसे यहाँतक बचना चाहिये कि छोटे-छोटे बच्चोंको भी झूठी बातोंसे खुश नहीं करना चाहिये बल्कि घरके सब लोगोंको रोज सत्य बोलनेका उपदेश करना चाहिये । मुझ पापी जीवको सत्य बोलनेसे बहुत लाभ पहुँचा है और हमेशा यह दास सत्यका सम्मान करता है ।

१—'सत्य बोलो' ये शब्द कागजपर बड़े अक्षरोंमें लिखकर सोने, बैठने, खाने और स्नान करनेकी जगहपर लगा देना चाहिये । नज़र पड़नेपर बात याद आती रहेगी ।

यह साधन बहुत अच्छा है । यदि किया जायगा, तो घरके सब आदमी, नौकर वगैरह सभी सत्य बोलने लगेंगे ।

(२) तप करनेके साधन

योगाभ्यास और भजन-ये दो मुख्य साधन ही तप करनेके बतलाये गये हैं और सब दूसरे साधन इनके अंदर हैं ।

योगक्रिया—प्राणायाम आदि साधन बहुत अच्छे और प्राचीन हैं । महात्मा लोग सदासे करते आये हैं । पर मैंने यह क्रिया आजतक कभी नहीं की, इसलिये मुझको इसका कुछ भी अनुभव नहीं है और न इसका शौक है, केवल इतना जानता हूँ कि इस कलियुगके समयमें यह साधन बहुत कठिनतासे होता है और बहुत-से विघ्न पड़नेके कारण पूरा नहीं हो पाता ।

भजन—यह साधन दो प्रकारसे होता है। एक मालासे, दूसरा बिना मालासे, जिसको अजपा जाप कहते हैं।

भजन करनेका सबसे पहला साधन माला है। मनके लिये यह कोड़ा है। जबतक माला हाथमें घूमती रहेगी, भजन होता रहेगा। मालासे भजनकी संख्या भी मालूम होती रहती है। मैंने सुना है कि आमतौरपर सुबह-शामके नित्य नियममें दस-बीस माला लोग फेर लेते हैं। यह बहुत थोड़ी संख्या है। कारण, भजनमें निम्नलिखित कई भागीदार हैं (१) गुरु, (२) माता-पिता, (३) जिसके राज्यमें भजन करें और (४) जो अन्न-वस्त्र आदि देता है।

एक दिन-रातके चौबीस घंटेमें २१६०० श्वास मनुष्यके देहमें चलते हैं, अगर ज्यादा नहीं तो २१६०० नामका जप तो होना ही चाहिये। यह संख्या दो सौ माला फेरनेमें पूरी हो जाती है और अभ्यास हो जानेपर मेरे ख्यालसे चार घंटेमें दो सौ माला पूरी हो सकती है। दो घंटे सुबह और दो घंटे शाम या जैसा जिसको अनुकूल हो, गृहस्थीमें प्रत्येक व्यक्तिको यह करना चाहिये।

दूसरा साधन यह है कि छोटी माला हर समय हाथमें रक्खे, जिससे चलते-फिरते भी भजन होता रहे। शरमानेकी जरूरत नहीं है। यह तो मनुष्यमात्रका धर्म ही है। चलते-फिरते

ध्यान नहीं होगा तो कुछ हर्ज नहीं, सुबह-शाम ही हो जाय तो बहुत है।

तीसरा साधन यह है कि कपड़ेकी थैली बनाकर हाथ उसके अंदर रक्खे और माला हर समय फेरता रहे। यह साधन भी बहुत अच्छा है, मथुरा-वृन्दावनमें अधिक देखनेमें आता है।

चौथा साधन अजपा-जाप है। जो नीचे लिखे चार प्रकारसे किया जाता है। अजपा-जाप करनेवाले माला नहीं रखते हैं और उसकी जरूरत भी नहीं है। प्रकार ये हैं—

१–जिह्वासे उच्चारण नामका करे, थोड़ी आवाज भी निकले, जिससे सुमिरन बंद न हो और साथ ही ध्यान भी लगा रहना चाहिये।

२–कण्ठसे जाप हो।

३–हृदयसे जाप हो।

४–नाभिसे श्वासके साथ जाप हो।

१–जिह्वासे एक वर्ष।

२–कण्ठसे दो वर्ष।

३–हृदयसे दो वर्ष।

४–नाभिसे सात वर्ष।

इस प्रकार बारह वर्षतक भजन करनेसे मनुष्य मोक्षस्वरूप

हो जाता है और उसे साक्षात्कार होता है यानी जाग्रत् अवस्थामें भगवान् सम्मुख आकर दर्शन देते हैं और सिद्धियाँ पैरोंमें लोटती फिरती हैं।

अजपा-जापमें कौन-कौन-सी बातोंका पालन और परहेज करना चाहिये—

१—भोजन एक समय और थोड़ा।

२—नींद थोड़ी।

३—एकान्तवास।

४—तकिया-गद्दा छोड़ देना चाहिये।

५—मौन चौबीस घंटेका।

६—भजनका खजाना तिजोरीमें रक्खे।

क्रमसे इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—

१—भोजन सात्त्विक होना चाहिये—चावल, दही, खटाई, तेल, ज्यादा मिर्च, मसाला, मूँगफली, गोभी वगैरह जितने वायु उत्पन्न करनेवाले पदार्थ* हैं, सब छोड़ देने चाहिये। इनके खानेसे नींद अधिक आती है।

मूँगकी दाल, रोटी, आलूका साग वगैरह ये भोजन बहुत

---

* प्याज लहसुनकी बाबत इसलिये कुछ नहीं लिखा गया कि वे तो सर्वथा त्याज्य हैं ही। शास्त्रोंमें लिखा है कि प्याज खानेवालेको प्रेतयोनि मिलती है।

उत्तम है। एक वक्त भोजन करना, दालमें घी ज्यादा डालना और रातको आध सेर दूध पीना काफी है, मीठा और नमक बहुत थोड़ा खाना चाहिये। जौकी रोटी बहुत गुणदायक है।

२—नींद कम करनेका साधन यह है कि रातको दस बजेसे एक-एक घंटे हर महीने बढ़ाना शुरू करे, यानी दस बजेसे ग्यारह बजेतक एक महीना जागे, दूसरे महीने बारह बजेतक, तीसरे महीने एक बजेतक, चौथे महीने दो बजेतक, इसी तरह रातके चार बजेतक जागनेका अभ्यास करे और चार बजेसे सुबहके छः बजेतक दो घंटे सोवे। इतना सोनेसे तन्दुरुस्ती खराब नहीं होगी। अगर नहीं हो सके तो ज्यादा-से-ज्यादा चार घंटे सोवे। इससे ज्यादा नहीं सोना चाहिये। महीनेका आरम्भ पूर्णिमाके दिनसे करना ठीक होगा। बीस घंटे भजन होना चाहिये।

पहले वक्तकी नींदमें ज्यादा ज़ोर होता है, इसलिये जिस वक्त नींद आती मालूम हो, फ़ौरन खड़े होकर धीरे-धीरे घूमना चाहिये। साधनके आरम्भमें कुछ रोजतक ऐसा भी होता है कि जब नींदका खुमार दिमागमें घूमने लगता है तो चकराकर शरीर ज़मीनपर गिर पड़ता है और थोड़ी चोट भी लग जाती है पर इसका खयाल नहीं करना चाहिये। साधनको छोड़े नहीं।

३—रातके समय कमरेमें दूसरा कोई नहीं होना चाहिए। सोते हुए आदमीको देखकर आलस्य आने लगता है और भजनमें विघ्न पड़ता है।

४—तकिये-गद्देपर रातको बैठनेसे आराम मिलेगा तो नींद ज्यादा तंग करेगी, इसलिये ऊन या कुशाके आसनपर बैठना चाहिये। रस्सीका एक झूला डालकर उसमें एक गोल डंडा बाँध देना चाहिये। जिस समय ज्यादा नींद आवे तो उसके सहारेसे खड़े होकर दस-पंद्रह मिनटतक नींदके खुमारको निकाल देना चाहिये। तेज रोशनी रातभर रखनी चाहिये।

५—मौन चौबीस घंटेका रखना चाहिये। क्योंकि जो भजन तैलधारावत् चल रहा है, बोलनेसे भजनकी डोरी टूट जायगी और विक्षेप होगा।

६—भजनके खजानेको तिजोरीमें इस कारण रखना चाहिये कि उसके लूटनेको डाकू बहुत आ जाते हैं। इसलिये गृहस्थको तो किसीके घरका भोजन वगैरह भी नहीं खाना चाहिये, किसीकी कोई चीज नहीं लेनी चाहिये और नेक कमाईका पैसा कमाकर खर्च करना चाहिये।

महात्माओंको, जो इस साधन और जापको करते हैं, माया बहुत दुःख देती है। दुनियाके लोग सब खजाना लूटकर ले जाते हैं और यही एक खास कारण है कि किसी प्रकारकी सिद्धि उनमें नहीं होती और न उन्हें भगवत्प्राप्ति ही होती है। वे मायामें ही भटकते रह जाते हैं। इसलिये भजनका खजाना खर्च न करके रूखा-सूखा टुकड़ा और गङ्गाजल पीकर शरीरका निर्वाह करना चाहिये।

ये अजपा-जापके साधन गृहस्थोंके लिये बहुत कठिन हैं। दो साल्तक तो ज़रूर तकलीफ होती है पर जैसे-जैसे भजनका प्रभाव बढ़ता जाता है। नारायण-कृपा भी ज्यादा होती जाती है, फिर परमानन्दसे जीवन व्यतीत होता है।

महात्मा रामदासजीने अपने दासबोध नामक ग्रन्थमें लिखा है कि यदि मनुष्य तेरह अथवा चौदह कोटि जाप नामका करे तो भगवान् दर्शन देते हैं। ये महात्मा बड़े सिद्ध हुए हैं। इनके वचनोंपर विश्वास करना चाहिये।

अजपा जाप करनेसे चार वर्षके अंदर यह संख्या पूरी हो जाती है।

मुझको इसका अनुभव हो चुका है। परम दयालु प्यारे नारायणने इस दास या गुलामोंके गुलामपर कृपा करके नर्मदा-किनारे गुजरातके चान्दोद नामक स्थानमें दर्शन दिये थे। पहले छमछमकी आवाज आयी, फिर विमान आया, जिसको चार पार्षदोंने उठा रक्खा था, भगवान् उतरकर कहने लगे— 'नारायण नारायण' इसका अर्थ यह हुआ कि नारायण आये हैं। फिर कहा कि 'बदरिकाश्रम चलो, वहाँ जाकर भजन करो, तुम्हारी यहाँसे बदली हो गयी।' इस साधनके करनेसे इस दासको तीन वर्ष छः मास चौबीस दिनमें भगवान्के दर्शन हुए थे।

अनन्य-भक्ति साधन

१, अजपा-जाप ।

२, प्रेम ।

३, सत्य बोलना ।

४, समदर्शित्व ।

५, वासनारहित होना ।

इनकी क्रमसे व्याख्या

१—अजपा-जाप वह है जो चौबीसों घंटे श्वासके साथ होता रहे । इसका अभ्यास करते-करते रोम-रोमसे 'नारायण' शब्द निकलता है । अन्यान्य साधन ऊपर लिखे जा चुके हैं ।

२—प्रेमका केवल एक साधन यही है कि भगवान्‌के गुणानुवाद सुनकर रोया करे और रातको एकान्तमें बैठकर खूब रोया करे । ऐसा करनेसे दिन-प्रति-दिन प्रेम बढ़ता आयगा। भक्तिका यह एक खास अंग है । मीराबाई भी ऐसा ही करती थीं।

३—भजनके साथ सत्य बोलना निहायत ज़रूरी है । इसके और साधन लिखे जा चुके हैं ।

४—समदर्शी होना—यह साधन बहुत कठिनतासे होता है। सारे जगत्‌को नारायणरूप जानकर हाथ जोड़कर प्रणाम इस भावको लेकर करे कि मैं नारायणको ही नमस्कार कर रहा हूँ । जीवमात्रके साथ प्रेम करे, किसीके मनको न दुखावे, किसीको दुर्वचन न कहे और न किसीसे वैरभाव करे। यह साधन मैं

अबतक कर रहा हूँ। इस दासने कुल वेदान्त और ज्ञानका सार सिर्फ एक समदर्शीभावमें ही जाना है।

५-भक्तिविषयमें भजन और ज्ञानविषयमें सर्वत्र नारायण इन्हीं दो बातोंका साधन इस जीवनमें किया है और कर रहा हूँ।

अनन्य भक्ति गृहस्थाश्रममें अत्यन्त कठिन है, चौथी अवस्थामें त्याग करना ही पड़ेगा। अगर भगवान्‌के साथ प्रेम है और परमपद चाहते हो तो अनन्य-भक्तिका साधन करना ही होगा।

अनन्य-भक्तके लिये ही भगवान् फर्माते हैं कि 'मैं उसके पीछे-पीछे इस कारणसे रहता हूँ कि भक्तके पैरोंकी धूलि मेरे मस्तकपर लगे।' अहाहा! भगवान्‌के इस प्रेम और दयालुताको सुनकर इस दासको रोना आता है और मनमें विचार करता हूँ कि 'हे मेरे प्यारे नारायण! मुझ पापी जीवको कब ऐसे दयालु प्रभुके चरणारविन्दमें मग्न रहनेका समय आवेगा!'

(३) दया

जैनमतमें तो अहिंसा परमो धर्मः इसी एक बातका साधन कहा है। १, जीवमात्रकी रक्षा करना। २, नीचे नजर झुकाकर चलना। ३, जहाँतक हो सके इस शरीरके कारण किसीको दुःख न होने देना। ४, किसीको भी दुःखी देखकर हृदयमें दया लाना, हो सके तो किसी प्रकारकी उसे सहायता करना। ५, किसी भी जीवको जहाँतक हो सके नहीं मारना। गोस्वामीजीने कहा है—

'तुलसी आह गरीबकी कभी न खाली जाय।'

इसका साधन यह किया है कि गरीब लोग जो मजदूरी वगैरहका काम करते हैं, उनसे काम लिया जाय तो दो-चार पैसे मजदूरीके ज्यादा देना, जिससे उनका मन दुःख न पावे। और गरीब लोगोंको कभी न सताना।

यह साधन गृहस्थीमें अच्छी तरह होता है।

(४) दान

१-दान करते समय योग्य या अयोग्य पुरुषका ख्याल मनमें न लाकर गृहस्थका धर्म समझकर साधु, ब्राह्मण, गरीब, अभ्यागत अनाथको देना। विद्यादान सबसे बड़ा बतलाया गया है इसलिये विद्यालयोंमें सहायता करनी चाहिये।

२-आत्मभावसे मछली, चींटी, कुत्ते, कौवे, गौ, बंदर, घरमें रहनेवाली चिड़ियाँ और दूसरे पक्षी या कबूतर वगैरहको अन्नदान अवश्य करना चाहिये। इनको खिलानेसे बहुत पुण्य होता है। इस तरहका अन्नदान करनेसे इस दासको बहुत लाभ मिला है। पूरा अनुभव किया है।

नम्बर दोके अन्नदानसे भगवान्ने खुश होकर इस पापी जीवको 'समदर्शीभाव' का दान दिया है। वाह-वाह! दयालु प्रभु धन्य है आपकी लीलाको और आपको!

विविध भाँतिके निम्नलिखित साधनोंसे अनुभव

(१) मन

१–ध्यान करते समय मनको घुमा-घुमाकर भगवान्‌के दर्शन करनेमें लगाना। यह वह साधन है जो नारायणने गीता में बतलाया है। इस साधनके करनेसे मनकी स्फुरणा कम हो जाती है, पर अधिक कालतक करनेके बाद। यह साधन बहुत अच्छा है।

२–सत्य बोलनेसे मनकी मलिनता दूर होकर मनरूपी दर्पण साफ होकर उसमें भगवान्‌के स्वरूपका प्रतिबिम्ब साफ पड़ने लगता है।

३–वासनारहित होना, जैसे जैसे मनमें वासनायें उठती आयें, वैसे-वैसे ही उसी समय उनको काटते जाना। इस प्रकार अभ्यास करते-करते वासनायें कम उठती हैं, तब मनकी स्फुरणायें कम होकर ध्यानमें बहुत मदद पहुँचाती हैं, लेकिन यह साधन बहुत कठिन है।

४–भजन करनेसे मनको शान्ति प्राप्त होती है।

५–प्रेमसे जितना मन वशमें हो जाता है, उतना किसी साधनसे नहीं होता। प्रेम बढ़ानेके लिये नारायण-कृपाकी बहुत जरूरत है। इसलिये इस दासने बहुत कालतक भगवान् से प्रेम बढ़ानेके लिये प्रार्थना की। तब प्यारे नारायणने कृपा की।

अयतक नेत्रोंसे जल-धारा न चले, प्रेम नहीं कहा जा सकता और यही एक भक्तिका खास अंग है।

(२) जिह्वा

यह इन्द्रिय बड़ी प्रबल है। मनके बाद दूसरा नंबर इसी-का है। इसका साधन इस तरह किया था कि, शामके वक्त बाजारमें जाना और फल-मिठाई वगैरह बहुत-सी चीजें देखना, पर लेना नहीं, मन चाहे जितना भी कहे। मकानपर भी घर-वाले चाहे जितनी चीजें मँगवाकर रक्खें, खाना ही नहीं, त्याग कर देना। मामूली साधारण सात्विक भोजन करना। मिठि-कीकेका कोई स्वाद जयानपर नहीं लेना। ऐसा अभ्यास करते करते जिह्वा-इन्द्रिय वशमें हो जाती है। यह साधन कठिन है, पर करनेवालेको नहीं। इस दासने गृहस्थाश्रममें ही धीरे-धीरे कर लिया था।

(३) समय

समयकी पाबन्दीके लिये चौबीस घंटेका प्रोग्राम बनाकर उसके अनुसार चलना पड़ता है। मैंने किसी पुस्तकमें देखा था कि एक बड़ा अमीर अहमद आदमी यूरोपमें था, उसने मरते समय अपने घरवालोंको यह वसीयत की थी कि जो कुछ रुपये और इज्जत मैंने पैदा की है, यह इस कारणसे है कि मैंने अपनी जिन्दगीमें वक्तकी बहुत कद्र की है। यह शब्द मेरी कब्रपर लिख

देना कि 'Time is money in the world' 'दुनियामें समय ही सम्पत्ति है।'

जबसे यह मालूम हुआ, यह दास समयकी बहुत कद्र करता था, और अब भी बहुत कद्र करता है। वक्तकी पाबंदी करनेसे लोक-परलोक दोनोंका काम ठीक चलता है। बस्त जीवनका एक मिनट भी कभी फजूल न खोना चाहिये।

(४) तुलसीदासजी महाराजका एक मशहूर दोहा है—

सत्य वचन आधीनता परतिय मातु समान।
इतनेमें हरि ना मिले तो तुलसीदास जमान॥

इस दोहेका अनुभव बहुत प्रेमसे किया।

सत्यका साधन तो ऊपर लिख ही चुका हूँ।

आधीनताका साधन यह किया कि लखनऊमें आठ या नौ महीनेतक रहा। गोमती-किनारे जाकर भजन करनेके बाद घाटोंपर हिंदू, मुसलमान जो कोई भी वहाँपर होते, उन सबके यह दास पैर छूते-छूते मकानपर वापस आता।

इसामसीह बाइबिलमें लिखते हैं कि 'अगर कोई शख्स तुम्हारे गालपर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।' दास यह कहता है कि उसके सामने सिर झुकाकर प्रार्थना करो कि 'हे प्यारे नारायण! अपने पैरका

जूता निकालकर इस सिरको खूब पीटो जिससे मेरा कल्याण हो और मैं आपको भूल न जाऊँ।'

पर-स्त्रीको आँख उठाकर नहीं देखना। मल-मूत्र, हाड़-मांस का फोटो फ़ौरन सामने खड़ा कर देनेसे अभ्यास करते-करते घृणा पैदा हो जाती है और यह पापकर्म फिर कभी नहीं होता है।

(५) नियम

जो काम किया जाय, नियमसे होना चाहिये। कुछ दिन किया, फिर छोड़ दिया इससे कुछ फायदा नहीं। नियमसे भजन वगैरह जो किया जाता है, बहुत लाभदायक हुआ करता है।

(६) भगवदिच्छामें प्रसन्नता

Let the will of God be done.'

भगवान्‌की जो इच्छा है सो होने दो। भगवान जो करता है सो अच्छा ही करता है। यह विचार करते रहनेसे गृहस्थोंकी चिन्तायें दूर हो जाती हैं।

(७) भगवान्‌की कृपा

तुलसीदासजी महाराजका वचन है—

जापर कृपा राम की होई। तापर कृपा करहिं सब कोई॥

इस दासको इस वचनका पूरा अनुभव हो गया।

(८) पुरुषार्थ

वशिष्ठजी महाराजने योगवाशिष्ठमें पुरुषार्थको परम श्रेष्ठ लिखा है, इस दासके अनुभवमें यह आया है कि प्रारब्ध विना

पुरुषार्थ कुछ काम नहीं देता, इसका यह अर्थ नहीं है कि पुरुषार्थ छोड़ दिया जाय, हरगिज़ नहीं। पुरुषार्थ तो ज़रूर ही करना चाहिये, परन्तु उसका फल प्रारब्धपर छोड़े। यह बात सांसारिक विषयोंकी प्राप्तिके लिये है। परमार्थमें तो भगवत्कृपा से पुरुषार्थ ही प्रधान है।

(९) अद्वैतभाव

जब नामरूप सब नारायणके ही हैं, सब भगवान्‌से द्वेष कैसे हो सकता है ? अपना एक इष्टदेव मानकर अन्य देवताओंके मन्दिरोंमें जाकर भी प्रणाम करना चाहिये, सनातन-धर्मकी मर्यादाको कायम रखना चाहिये।

मुझको तो प्यारे नारायणके सिवा दूसरा कुछ भी नज़र नहीं आता। 'नारायण' शब्दके सिवा किसको बोलूँ और क्या बोलूँ ?

(१०) उपवास

एकादशीका उपवास वैष्णव करते ही हैं, परन्तु अमावस्या और पूर्णिमाके दिन भी बहुत पवित्र माने गये हैं। ये दो व्रत भी रखने चाहिये। वृत्त महाराजने अपने किसी ग्रन्थमें लिखा है कि धर्मादेका अन्न खानेसे अमावस्याके दिन एक मास और पूर्णिमाको पंद्रह रोजके भजनका फल अन्न देनेवालेको चला जाता है, अबसे यह मालूम हुआ है यह दास भी दोनों दिन उपवास करता है। जो धर्मादेका अन्न खाते हैं उनको तो अवश्य ही करना चाहिये।

(११) सन्तोष

त्याग करनेसे सन्तोष हो जाता है।

(१२) शान्ति

ज्ञान और भजनसे शान्ति होती है।

(१३) मानसिक पूजा

मूर्ति-पूजासे मानसिक पूजा अधिक उत्तम मानी गयी है। इस दासको यह अनुभव हुआ कि ध्यानमें सेवा करते समय मन बहुत कम भागा। चला भी जाता है तो उसे वापस लाना पड़ता है, क्योंकि मनकी एकाग्रता बिना मानसिक सेवा नहीं हो सकती। दासको यह साधन बहुत पसंद है।

(१४) भक्ति-ज्ञानका जोड़ा

न केवल भक्तिसे ही ईश्वर प्राप्ति होती है और न केवल ज्ञानसे ही। दोनोंका जोड़ा है। दोनों साथ चले बिना मेरे खयालसे काम नहीं चलता। जैसे कि एक टाँगसे यह शरीर नहीं चलता।

(१५) दोषोंका दमन

काम, क्रोध, लोभ, मोहके दमनका साधन गृहस्थीमें अच्छी तरह किया। गृहस्थमें इस साधनमें कोई दिक्कत नहीं होती।

(१६) गुरु-कृपा

गुरुकी कृपासे ही सब साधन होते हैं और हो रहे हैं। सदा मन्त्रके आत्मरूपसे अनुभव कराते रहते हैं। इस दासके

कठोर हृदयको माखनचोरने कृपा करके माखनरूप बना दिया है।

आजकल यह दास भगवत्कृपासे तुलसीदासजी महाप्रभुके नीचे लिखे दोहेका साधन कर रहा है और आशा करता है कि प्यारे नारायण इसको पूरा करेंगे। यह देह दयालु भगवान् के चरणारविन्दमें अर्पण हो चुकी है, दास जानकर जरूर कृपा करेंगे।

तीन टूक कौपीनके अरु भाजी बिन नौन।
रघुबर जाके उर बसै, इन्द्र बापुरो कौन॥

(१७) तप करके किस वरदानकी इच्छा है

न मोक्षकी इच्छा है, न चौदह लोकके राज्यकी इच्छा है, न ज्ञान माँगता हूँ और न भक्ति माँगता हूँ। यह दास तो प्यारे नारायणके चतुर्भुजी स्वरूपका आशिक है। केवल इतना ही चाहता है। क्या?

'तुम मुझे देखा करो और मैं तुम्हें देखा करूँ'

बोलो नारायण

स्वर्गाश्रम-ऋषिकेश
चैत्र कृष्ण १० सं० १९८६

सबका शुभचिन्तक,
नारायणदास परमहंस

सत्य बोलो

गीता प्रेस गोरखपुर

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

सच्चा सुख
और
उसकी प्राप्तिके उपाय ।

भौतिक सुखसे हानि ।

इस समय क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित प्राय अधिकांश जनसमुदाय सांसारिक भोग-विलासको ही सच्चा सुख समझकर केवल भौतिक उन्नतिकी चेष्टामें ही प्रवृत्त हो रहा है, इस परमसत्यको लोग भूल गये हैं कि यह विषयेन्द्रिय-संयोग-जनित भौतिक सुख नाशवान्, क्षणिक और परिणाममें सर्वथा दुःखस्वरूप है ।

आजकल हमारे अनेक पाश्चात्य-शिक्षा प्राप्त विद्वान् देश बन्धु, जो अपनेको बड़े विचारशील, तर्कनिपुण और बुद्धिमान् समझते हैं, अंगरेजोंके सहवाससे तथा उनकी विलासप्रियता और जड़ इन्द्रिय चरितार्थताको देखकर पाश्चात्य सभ्यताकी माया-मरीचिकापर मोहित हो रहे हैं और वेदशास्त्र कथित धर्म-के सूक्ष्म तत्त्वको न समझकर प्राचीन आदर्श सभ्यताकी अव हेलना कर रहे हैं । उनके हृदयसे यह विश्वास प्राय उठ गया है कि हमारे प्राचीन त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंकी विचारशीलता,

तर्कपटुता और बुद्धिमत्ता हमलोगोंसे बहुत बढ़ी चढ़ी हुई थी और उन्होंने हमारे उत्कर्षके लिये जो पथ बतलाया है वही हम-लोगोंके लिये सच्चे सुखकी प्राप्तिका यथार्थ मार्ग है । ऐसे विचार रखनेवाले बन्धुओंको समझाकर अपने प्राचीन आदर्शकी ओर आकर्षित करनेकी विशेष आवश्यकता है और इसीसे सबका मङ्गल है ।

प्रिय बन्धुगण ! विचार करनेपर आपको यह विदित हो जायगा कि पाश्चात्य-सभ्यता वास्तवमें हमारे देश, धर्म, धन, सुख और हमारी जाति तथा आयुका विनाश करनेवाली है । इस सभ्यताके संसर्गसे ही आज हमारा देश अपने चिरकालीन धर्म-पथसे विचलित होकर अधोगतिकी ओर जा रहा है । इसीसे आज हमारी धर्मप्राण जाति अनार्योचित कायरता और भोग-परायणताकी ओर अग्रसर होती हुई दिखायी दे रही है । इस प्रकार जो सभ्यता हमारे सांसारिक सुखोंका भी विनाश कर रही है उससे सच्चे सुखकी आशा करना तो विडम्बनामात्र है ।

जातिका नाश होता है—अपने वेष-भाषा, खान-पान और आचारके त्याग देनेसे । जो जाति इन चारोंकी रक्षा करती हुई अपने आदर्शसे स्खलित नहीं होती, उसके अस्तित्वका नाश होना बड़ा कठिन होता है । अतएव हमें अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा आचरित रहन-सहन, वेष-भूषा और स्वभाव-सभ्यताका ही अनुकरण करना चाहिये । स्वधर्मका त्याग करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं । भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (३।३५)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुण-रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना (भी) कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

मुसलमानोंके शासनके समय जब हिन्दुओंने उनके रहन-सहन और स्वभाव-सभ्यताकी नकल करना आरम्भ किया, तभीसे हिन्दूजाति और हिन्दूधर्मका ह्रास होने लगा। देखते देखते आठ करोड़ हिन्दू भाई मुसलमानोंके रूपमें बदल गये। जो लोग गो, ब्राह्मण और देवमन्दिरोंके रक्षक थे वे ही उलटे उन सबके शत्रु बन गये। यह सब मुसलमानी सभ्यताके और उनके आचार-विचारोंके अनुकरण करनेका ही दुष्परिणाम है।

इस समय अंगरेजोंका राज्य है। सब ओर अंगरेजी शिक्षाका प्रचार हो रहा है। अंगरेजोंका संसर्ग दिनोंदिन बढ़ रहा है। इसी कारण हमारी जातिमें आज अंगरेजी वेष-भाषा, खान-पान और आचार-विचारोंका बड़े जोरके साथ विस्तार हो रहा है। इसीके साथ-साथ हिन्दूधर्म और हिन्दूजातिका ह्रास तथा ईसाई-धर्मकी वृद्धि भी हो रही है। यह दुर्दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। दूसरोंके अनुकरणमें अपने जातीय भावोंको छोड़नेका यही परिणाम हुआ करता है।

अतएव सबको यह बात निश्चितरूपसे समझ लेनी चाहिये

कि पाश्चात्य सभ्यता और उनका अनुकरण हमारे लिये किसी प्रकार भी हितकर नहीं है । इससे हमारे धर्ममय भावोंका विनाश होता है और हमें केवल भौतिक उन्नतिके पीछे भटककर सच्चे सुखसे वञ्चित रहनेको बाध्य होना पड़ता है ।

सच्चा सुख !

विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ सकता है कि मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिसे कोई अत्यन्त ही उत्तम लाभ होना चाहिये । खाना, पीना, सोना, मैथुन करना आदि सांसारिक भोग-जनित सुख तो पशु-कीटादितक नीच योनियोंमें भी मिल सकते हैं । यदि मनुष्य-जीवनकी आयु भी इसी सुखकी प्राप्तिमें चली गयी तो मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया ? मनुष्य-जन्मका परमध्येय तो उस अनुपमेय और सच्चे सुखको प्राप्त करना है, जिसके समान कोई दूसरा सुख है ही नहीं । वह सुख है 'श्रीपरमात्माकी प्राप्ति ।'

साधनमें क्यों नहीं लगते ?

इतना होनेपर भी अधिकांश लोग केवल धन, स्त्री और पुत्रादि विषयजन्य सुखको ही परमसुख मानकर उसीमें मोहित रहते हैं । असली सुखके लिये यत्न करनेवाले कर्तव्यपरायण पुरुष तो कोई विरले ही निकलते हैं । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

भगवान्के कथनानुसार आजकल भी जो कुछ थोड़े-बहुत सज्जन इस सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, उनमेंसे भी विरले ही आखिरी मंजिलतक पहुँचते हैं। अधिकांश साधक तो थोड़ा-सा साधन करके ही रुक जाते हैं। वे अपनेको अधिक उन्नत स्थितिमें नहीं ले जा सकते। मेरी समझसे इसमें निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) संसारमें इस सिद्धान्तके सुयोग्य प्रचारक कम हैं। क्योंकि इसके प्रचारक त्यागी, विद्वान्, सदाचारी, परिश्रमी और सच्चे महापुरुष ही हो सकते हैं।

(२) साधारण थोड़ी सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य समझकर अधिक साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते।

(३) कुछ साधक थोड़ा-सा साधन करके उकता जाते हैं। इस साधनसे अपनी विशेष उन्नति नहीं समझकर वे 'किंकर्तव्य विमूढ़' हो जाते हैं।

(४) सच्चे सुखमें लोगोंकी श्रद्धा ही बहुत कम होती है। कारण, विषय-सुखोंकी भाँति इसके साधनमें पहले ही सुख नहीं दीखता। इसीसे तत्परताका अभाव रहता है।

(५) कुछ लोग इस सुखका सम्पादन करना अपनी शक्तिसे बाहरकी बात समझते हैं, इसलिये वे निराश हो रहते हैं।

इनके सिवा और भी कई कारण बताये जा सकते हैं परन्तु इन सबमें सच्चा कारण केवल अज्ञानता और अकर्मण्यता ही है। अतएव मनुष्यको सावधान होकर उत्साहके साथ कर्तव्यपरायण रहना चाहिये।

सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय।

श्रुति कहती है—

> उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
> क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
>
> (क० उ० १।३।१४)

'उठो, (साधनके लिये प्रयत्नशील होओ) अज्ञान-निद्रासे जागो एवं श्रेष्ठ विद्वान् जिस मार्गको क्षुरकी तेज धारके समान दुर्लंघ्य—दुर्गम बताते हैं, उसको महापुरुषोंके पास जाकर समझो!'

अतएव इस भगवत्-साक्षात्काररूप परमकल्याण और परम-सुखकी प्राप्तिके साधनमें किञ्चित् भी विलम्ब नहीं करना चाहिये। यही मनुष्य-जन्मका परमकर्तव्य है, यही सबसे बड़ा और सच्चा सुख है। इसी सुखकी महिमा बताते हुए भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—

> सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
> वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
>
> (६।२१)

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६।२२)

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६।२३)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है।'

'और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है।'

'और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

यद्यपि इस सच्चे सुखकी प्राप्तिका उपाय कुछ कठिन है परन्तु असाध्य नहीं है। श्रीपरमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे तो कठिन होनेपर भी यह सर्वथा सरल, सुखसाध्य और अत्यन्त सहज हो जाता है। श्रीगीताजीमें भगवान् स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(९।३२)

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(९।३३)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य (और) शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन (परम गतिको) प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

अतएव साधकको चाहिये कि वह परमात्मापर दृढ़ विश्वास करके उसकी शरण ग्रहणकर अपनी उन्नतिके प्रतिबन्धक कारणोंको निम्नलिखित उपायोंसे दूर करनेकी चेष्टा करे।

(१) साधककी धारणामें उसे संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लग जाय। उनके वचनोंमें पूर्ण विश्वास रक्खे, उनके समीप जाकर फिर 'किंकर्तव्यविमूढ़' न रहे, अपनी बुद्धिको प्रधानता न दे, उनका बतलाया हुआ साधन यदि ठीक समझमें न आवे तो नम्रतापूर्वक पूछकर अपना समाधान कर ले और साधनमें लगनेपर भी यदि कुछ समयतक प्रत्यक्ष गुण-

की प्रतीति न हो तो भी परिणाममें होनेवाले परम हितपर विश्वास करके उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कदापि विमुख न हो। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
> (गीता ४। ३४)

'भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

(२) साधकको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मुझे यह साधन किसी दिन छोड़ देना है। उसको यही समझना चाहिये कि यह साधन ही मेरा परमधन, परमकर्तव्य, परमामृत, परमसुख और मेरे प्राणोंका परमाधार है। जो लोग यह समझते हैं कि परमात्माका ज्ञान होनेके बाद हमें साधनकी क्या आवश्यकता है, वे भूल करते हैं। जिस साधनद्वारा अन्तःकरणको परमशान्ति प्राप्त हुई है, भला वह उसे क्योंकर छोड़ सकता है? परमात्माकी प्राप्ति होनेके पश्चात् उस महापुरुषकी स्थिति देखकर तो दुराचारी मनुष्योंकी भी साधनमें प्रवृत्ति हो जाया करती है। जिन्हें देखकर साधनहीन जन भी साधनमें लग जाते हैं उनकी अपनी तो बात ही कौन-सी है? इतना होनेपर भी जो पुरुष थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं, वे बड़ी भूलमें रहते हैं। इस

भूलसे साधनमें बड़ा विघ्न होता है। यही भूल साधकका अवपतन करनेवाली होती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

(३) साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि कर्तव्यपरायण, भगवत्-शरणागत पुरुषके लिये कोई भी कार्य दुःसाध्य नहीं है। वह बड़े-से-बड़ा काम भी सहजहीमें कर सकता है। यह शक्ति वास्तवमें प्रत्येक मनुष्यमें है। अपनी शक्तिका अभाव मानना मानो अपने आपको नीचे गिराना है। उत्साही पुरुषके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य हो जाता है।

(४) प्रत्येक साधकको अपनी परीक्षा अपने आप करते रहना चाहिये। सूक्ष्मदृष्टिसे विचारकर देखनेपर अपने छिपे हुए दोष भी प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं। साधकको देखना चाहिये कि मेरा मन अपने अधीन, शुद्ध, एकाग्र और विषयोंसे विरक्त हुआ या नहीं। कारण, जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता तबतक परमात्माकी प्राप्ति बहुत दूर है।

भगवान् कहते हैं कि—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(गीता ६।३६)

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है यह मेरा मत है।'

अतएव साधकको सबसे पहले मनको अपने अधीन, शुद्ध और एकाग्र बनाना चाहिये*। इसके लिये शास्त्रोंमें प्रधानतः दो उपाय बतलाये गये हैं।

(१) अभ्यास और (२) वैराग्य

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे (यह) वशमें होता है।'

इसी प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध होता है।'

अभ्यास और वैराग्यकी विस्तृत व्याख्या तो यथाक्रम उक्त ग्रन्थोंमें ही देखनी चाहिये, परन्तु भगवान्‌ने अभ्यासका स्वरूप मुख्यतया इस प्रकार बतलाया है—

---

* 'मनको वश करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तकमें मनको रोकनेके बहुत-से उपाय बतलाये हैं।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६। २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस कारण-से सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है उस-उससे रोककर (बारम्बार) परमात्मामें ही निरोध करे।'

वैराग्यके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'जो यह इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यसे मनको शुद्ध, अपने अधीन, एकाग्र और वैराग्यसम्पन्न बनाकर भगवान्‌के स्वरूपमें निरन्तर अचल स्थिर कर देनेके लिये ध्यानका साधन करना चाहिये।

जैसे श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
(गीता ६ । २४ २५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्याग कर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके क्रम-क्रमसे (अभ्यास करता हुआ) उपरामताको प्राप्त होवे (तथा) धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

अभ्यास और वैराग्यके प्रभावसे मनके शुद्ध, स्वाधीन, एकाग्र और विरक्त हो जानेपर तो उसे परमात्माके चिन्तनमें लगाना परम सुगम हो ही जाता है परन्तु उक्त दोनों उपायोंको पूर्णतया काममें न ला करके भी यदि मनुष्य केवल परमात्माकी शरण ग्रहण कर उसके नाम-जप और स्वरूप-चिन्तनमें तत्पर हो जाय तो इस प्रकारके ध्यानसे ही सब कुछ हो सकता है। साधकका मन शीघ्र ही शुद्ध, एकाग्र और उसके अधीन हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

महर्षि पतञ्जलिने भी शीघ्रातिशीघ्र समाधि लगनेका उपाय बतलाते हुए कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।' (योग० १ । २३)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य तो मनके निरोध करनेके उपाय हैं ही। जो साधक इन उपायोंको जितना अधिक काममें

जाता है, उतना ही शीघ्र उसका मन निरुद्ध होता है। परन्तु ईश्वर-प्रणिधानसे भी मन बहुत ही शीघ्र समाधिस्थ हो सकता है।

इससे यह माना जा सकता है कि जप, तप, व्रत, दान, लोकसेवा, सत्सङ्ग और शास्त्रोक्त मनन आदि समस्त साधन इसी ध्यानके लिये ही बतलाये और किये जाते हैं।

अतएव सच्चे सुखकी प्राप्तिका साक्षात्, सरल और सबसे सुलभ उपाय परमात्माके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही है। इसीको शास्त्रकारोंने ध्यान, स्मरण और निदिध्यासन आदि नामोंसे कहा है। कर्मयोग और सांख्ययोग आदि सभी साधनोंमें परमात्माका ध्यान प्रधान है।

साधनकालमें अधिकारी भेदसे ध्यानके साधनोंमें भी अनेक भेद होते हैं। सभी मनुष्योंकी रुचि एक प्रकारके साधनमें नहीं हुआ करती। एक ही गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग हुआ करते हैं, इसी प्रकार फलरूपमें एक ही परम वस्तुकी प्राप्ति होनेपर भी साधनके प्रकारोंमें अन्तर रहता है। कोई एकत्वभावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके निराकाररूपका ध्यान करते हैं तो कोई स्वामी-सेवक-भावसे सर्वव्यापी परमेश्वरका चिन्तन करते हैं। कोई भगवान् विश्वरूपका तो कोई चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपका, कोई मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपका तो कोई मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूपका और कोई कल्याणमय श्रीशिवरूपका ही ध्यान करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥
(गीता ९।१५)

अतएव जिस साधककी परमात्माके जिस रूपमें अधिक प्रीति और श्रद्धा हो, वह निरन्तर उसीका चिन्तन किया करे। परिणाम सबका एक ही है, परिणामके सम्बन्धमें किञ्चित् भी संशय रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

साधकोंकी प्रायः दो श्रेणियाँ होती हैं। एक अभेदरूपसे अर्थात् एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवालोंकी और दूसरी स्वामी-सेवक-भावसे भक्ति करनेवालोंकी। इनमेंसे अभेद-रूपसे उपासना करनेवालोंके लिये तो केवल एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर एकत्व-भावसे स्थित रहना ध्यानका सर्वोत्तम साधन है। परन्तु दूसरे, स्वामी-सेवक-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंके लिये शास्त्रोंमें ध्यानके बहुत प्रकार बतलाये गये हैं।

ध्यान करनेकी पद्धति नहीं जाननेके कारण ध्यान ठीक नहीं होता, साधक चाहता तो है परमात्माका ध्यान करना, परन्तु उसके ध्यान होता है जगत्का। यह शिकायत प्रायः देखी और सुनी जाती है। इसलिये परमात्मामें मन जोड़नेकी जो विधियाँ हैं, उन्हें जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। शास्त्र-कारोंने अनेक प्रकारसे ध्यानकी विधियोंके बतलानेकी चेष्टा की है। उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन यहाँ संक्षेपमें करवाया जाता है।

यों तो परमात्माका चिन्तन निरन्तर उठते, बैठते, चलते, खाते, पीते, सोते, बोलते और सब तरहके काम करते हुए हर समय ही करना चाहिये। परन्तु साधक खास तौरपर जब ध्यानके निमित्तसे बैठे, उस समय तो गौणरूपसे भी उसे अपने अन्तःकरणमें सांसारिक सङ्कल्पोंको नहीं उठने देना चाहिये तथा एकान्त और शुद्ध देशमें बैठकर ध्यानका साधन आरम्भ कर देना चाहिये। श्रीगीताजीमें कहा है—

> शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
> नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
> तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
> उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
> (६। ११-१२)

'शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपर्युपरि जिसके, ऐसे अपने आसनको न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किये हुए, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।'

> समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
> संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
> (गीता ६। १३)

'काया, शिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये

हुए दृढ होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखकर* अन्य दिशाओंको न देखता हुआ परमेश्वरका ध्यान करे।'

ध्यान करनेवाले साधकको यह बात विशेषरूपसे जान रखनी चाहिये कि जबतक अपने शरीरका और संसारका ज्ञान रहे तबतक ध्यानके साथ नामजपका अभ्यास अवश्य करता रहे। नामजपका सहारा नहीं रहनेपर बहुत समयतक नामीके स्वरूपमें मन नहीं ठहरता। निद्रा, आलस्य और अन्यान्य सांसारिक स्फुरणाएँ विघ्नरूपसे आकर मनको घेर लेती हैं। नामीको याद दिलानेका प्रधान आधार नाम ही है। नाम नामीके रूपको कभी भूलने नहीं देता। नामसे ध्यानमें पूर्ण सहायता मिलती है। अतएव ध्यान करते समय जबतक ध्येयमें सम्पूर्णरूपसे तल्लीनता न हो जाय, तबतक नामजप कभी नहीं छोड़ना चाहिये। यह तो ध्यानके सम्बन्धमें साधारण बातें हुईं। अब ध्यानकी कुछ विधियाँ लिखी जाती हैं।

अभेदोपासनाके अनुसार ध्यानकी विधि

एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको चाहिये कि वह उपर्युक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर मनमें रहनेवाले सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग करके इस प्रकार भावना करे।

(१) एक आनन्दघन ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही

---

* इसमें दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखनेके लिये कहा गया है परन्तु जिन लोगोंको आँखें बन्द करके ध्यान करनेका अभ्यास हो, वे आँखें बन्द करके भी कर सकते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है।

परिपूर्ण है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उस ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं, वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, अहङ्कार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो कुछ भी है वह सभी उस ब्रह्ममें आरोपित और ब्रह्मस्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्णब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नके सदृश उस परमात्मामें कल्पित है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

'ब्रह्म सत्य, चेतन और अनन्त है' इस श्रुतिके अनुसार वह आनन्दघन, सत्यस्वरूप, बोधस्वरूप परमात्मा है, 'बोध' उससे भिन्न कोई उसका गुण या उसकी कोई उपाधि या शक्तिविशेष नहीं है। इसी प्रकार 'सत्' भी उससे कोई भिन्न गुण नहीं है। वह सदासे है और सदा ही रहता है, इसलिये लोक और वेदमें उसे 'सत्' कहते हैं, वास्तवमें तो वह परमात्मा सत् और असत् दोनोंसे परे है।

'न सत्तन्नासदुच्यते ॥' (गीता १३। १२)

इस प्रकार अन्तःकरणमें ब्रह्मके अचिन्त्यस्वरूपकी दृढ़ भावना करके जपके स्थानमें बारम्बार निम्नलिखित प्रकारसे परमात्माके विशेषणोंकी मन-ही-मन भावना और उनका उच्चारण करता रहे। वास्तवमें ब्रह्म नाम-रूपसे परे है परन्तु उसके आनन्दस्वरूपकी स्फूर्तिके लिये इन विशेषणोंकी कल्पना है। अतएव साधक चित्तकी समस्त वृत्तियोंको आनन्दरूप ब्रह्ममें तल्लीन करता हुआ

'पूर्ण-आनन्द' 'अपार-आनन्द' 'शान्त-आनन्द' 'घन-आनन्द' 'बोध-स्वरूप-आनन्द' 'ज्ञानस्वरूप-आनन्द' 'परम-आनन्द' 'नित्य-आनन्द' 'सत्-आनन्द' 'चेतन-आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' 'एक आनन्द-ही-आनन्द' इस प्रकार ब्रह्मके विशेषणोंका चिन्तन करता हुआ इस भावनाको उत्तरोत्तर दृढ़ करता रहे कि एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसके साथ ही यह अपने मनको बड़ी तेजीसे उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय करता हुआ उन सम्पूर्ण विशेषणोंको उस आनन्दमय परमात्मासे अभिन्न समझता रहे। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त सङ्कल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका सङ्कल्प मनमें नहीं रहता है, तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चलताके साथ होती है। इस प्रकारसे ध्यानका नित्य-नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है। फिर साधक, साधना और साध्य सभी अभिन्न, सभी एक आनन्दस्वरूप हो जाते हैं, फिर उसकी यह स्थिति सदाके लिये वैसी ही बनी रहती है। चलना फिरना, उठना-बैठना तथा अन्य सम्पूर्ण कार्योंके यथाविधि और यथासमय होते हुए भी उसकी स्थितिमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं पड़ता। भगवान्ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
(गीता ६ । ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

वास्तवमें वह किसी भी समय संसारको या अपनेको ब्रह्मसे अलग नहीं देखता। इसीलिये उसका पुनः कभी जन्म नहीं होता। वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है। गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी (तथा) तद्रूप है मन जिनका (और) उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।' यही उपर्युक्त ध्यानका फल है।

अभेदोपासनाके ध्यानकी दूसरी युक्ति

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥
(कठ० उ० १ । ३ । १३)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह वाणी आदि सम्पूर्ण

इन्द्रियोंका मनमें निरोध करे, मनका बुद्धिमें निरोध करे, बुद्धिका महत्तत्त्वमें अर्थात् समष्टिबुद्धिमें निरोध करे और उस समष्टिबुद्धिका निरोध शान्तात्मा परमात्मामें करे।'

एकान्त स्थानमें बैठकर दशों इन्द्रियोंके विषयोंको उनके द्वारा ग्रहण न करना अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर मनके द्वारा केवल परमात्माके स्वरूपका बारम्बार मनन करते रहना ही 'वाणी आदि इन्द्रियोंका मनमें निरोध' करना है। इसके बाद मनन किये हुए परमात्माके स्वरूपके विषयमें जितने भी विकल्प हैं, उन सबको छोड़कर एक निश्चयपर स्थित होकर चित्तका शान्त हो जाना याने अन्तःकरणमें किसी चञ्चलात्मक वृत्तिका किञ्चित् भी अस्तित्व न रहकर एकमात्र विज्ञानका प्रकाशित हो जाना 'मनका बुद्धिमें निरोध' करना है। ध्यानकी इस प्रकारकी स्थितिमें ध्याताको अपना और ध्येय वस्तु परमात्माका बोध रहता है परन्तु इसके बाद जब उस सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निश्चय करनेवाली बुद्धिवृत्तिकी स्वतन्त्र सत्ता भी समष्टिज्ञानमें तन्मय हो जाती है, जब ध्याता, ध्यान और ध्येयका समस्त भेद मिटकर केवल एक ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपका ही बोध रह जाता है, इसी अवस्थाको 'बुद्धिका समष्टिबुद्धिमें निरोध' करना कहते हैं।

इसके अनन्तर एक और अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका भिन्न संस्कारमात्र भी शेष नहीं रहता। केवल एक शुद्ध, बोधस्वरूप, सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है, उसके सिवा अन्य किसीकी भी

भिन्न सत्ता किसी प्रकारसे भी नहीं रहती। इसीका नाम 'मन-बुद्धिका शान्तात्मामें निरोध' करना है।

इसीको 'निर्बीज समाधि' 'शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति' या 'चैतन्य-पदकी प्राप्ति' कहते हैं। यही अन्तिम स्थिति है। वाणी इस अवस्थाका वर्णन नहीं कर सकती, मन इसका मनन नहीं कर सकता। क्योंकि यह मन, वाणी और बुद्धिके परेका विषय है। यही 'मोक्ष' है।

इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। श्रीगीता-जीमें कहा है—

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
> आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (३।१७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट होवे, उसके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।'

अभेदोपासनाके अनुसार परमात्माका ध्यान करनेके और भी बहुत से प्रकार हैं परन्तु लेखका आकार बढ़ जानेके कारण और नहीं लिखे जाते हैं। सबका आशय प्रायः एक ही है। एकत्वभावसे उपासना करनेवालेके लिये श्रीगीताजीके इस श्लोकको निरन्तर स्मरण रखना अत्यन्त लाभप्रद है।

> बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
> सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ (१३।१५)

'(वह परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर तथा भीतर परिपूर्ण है, चर अचररूप भी (वही) है, वह सूक्ष्म होनेसे

अविज्ञेय*है तथा अति समीपमें † और दूरमें ‡ भी वही स्थित है।'

अतएव जिनकी अभेदोपासनामें रुचि हो, उन साधकोंको उपर्युक्त प्रकारके साधनमें शीघ्र ही तत्पर होना चाहिये।

विश्वरूप परमात्माके ध्यानकी विधि

एकान्त स्थानमें आँखें मन्द करके बैठनेपर भी यदि इस मायामय संसारकी कल्पना साधकके हृदयसे दूर न हो तो उसे इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये—

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकोंमें जो कुछ भी देखने, सुनने और मनन करनेमें आता है सो सब साक्षात् श्रीपरमात्माका ही स्वरूप है। यह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी मायाशक्तिसे विश्वरूपमें प्रकट हुए हैं। जैसे श्रीगीताजीमें कहा है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ (१३। १३)

'वह सब ओरसे हाथ, पैरवाला, सब ओरसे नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है, क्योंकि वह सब संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'§

---

* जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता।

† वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है।

‡ श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है।

§ आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका कारणरूप

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंश-मात्रसे धारण करके स्थित हूँ। इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
(१०।३९)

'हे अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा वह चर अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मुझसे रहित हो, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।'

इस प्रकार बारम्बार मनन करके सम्पूर्ण संसारको तत्त्वसे श्रीपरमात्माका स्वरूप समझकर परमात्माके निश्चित रूपमें मनको निश्चल करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनकी चञ्चलताका सहजमें ही नाश हो जाता है। फिर मन जहाँ जाता है वहीं उसे वह परमात्मा दीखता है। एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं भासता। जैसे जलसे बने हुए अनेक प्रकारके बर्फके खिलौनोंको जो तत्त्वसे जलस्वरूप समझ लेता है उसे फिर उनके जल होनेमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता, उसे सभी

होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है।

छिलैने प्रत्यक्ष जलस्वरूप दीखने लगते हैं। इसी तरह उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करनेवाले साधकको भी सम्पूर्ण विश्व परमात्मस्वरूप दीखने लगता है। उसकी भावनामें जगत्‌रूप किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता। मन शान्त और संशयरहित हो जाता है, चञ्चल चित्तको परमात्मामें लगानेका यह भी एक सहज उपाय है।

श्रीविष्णुके चतुर्भुजरूपका ध्यान करनेकी विधि

एकान्त स्थानमें पूर्वोक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर आँखें मूँद ले और आनन्दमें मग्न होकर अपने उस परम प्रेमीके मिलनकी तीव्र लालसासे ध्यानका साधन आरम्भ करे।

मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन कर, भगवान्‌के चित्रोंका अवलोकन कर, संत-महात्माओंके द्वारा सुनकर या सौभाग्यवश स्वप्नमें प्रभुके दर्शन कर भगवान्‌के जैसे साकाररूपको बुद्धि मानती हो, याने भगवान्‌का साकाररूप साधककी समझमें जैसा आया हो, उसीकी भावना करके ध्यान करना चाहिये। साधारणत भगवान्‌की मूर्तिके ध्यानकी भावना इस प्रकार की जा सकती है।

(१) भूमिसे करीब सवा हाथकी ऊँचाईपर आकाशमें अपने सामने ही भगवान् विराजमान हैं। भगवान्‌के अतिशय सुन्दर चरणारविन्द नीलमणिके ढेरके समान चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं। चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ हैं और उनपर स्वर्णके रत्नजटित नूपुर शोभित हो रहे

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है ? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंश-मात्रसे धारण करके स्थित हूँ। इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
(१०।३९)

'हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा वह चर अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मुझसे रहित हो, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।'

इस प्रकार बारम्बार मनन करके सम्पूर्ण संसारको तत्त्वसे श्रीपरमात्माका स्वरूप समझकर परमात्माके निश्चित रूपमें मनको निश्चल करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनकी चञ्चलताका सहजमें ही नाश हो जाता है। फिर मन जहाँ जाता है वहीं उसे वह परमात्मा दीखता है। एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं भासता। जैसे जलसे बने हुए अनेक प्रकारके बर्फके खिलौनोंको जो तत्त्वसे जलस्वरूप समझ लेता है उसे फिर उनके जल होनेमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता, उसे सभी

होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है।

खिलौने प्रत्यक्ष जलस्वरूप दीखने लगते हैं। इसी तरह उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करनेवाले साधकको भी सम्पूर्ण विश्व परमात्मस्वरूप दीखने लगता है। उसकी भावनामें जगत्‌रूप किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता। मन शान्त और संशयरहित हो जाता है, चञ्चल चित्तको परमात्मामें लगानेका यह भी एक सहज उपाय है।

श्रीविष्णुके चतुर्भुजरूपका ध्यान करनेकी विधि

एकान्त स्थानमें पूर्वोक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर आँखें मूँद ले और आनन्दमें मग्न होकर अपने उस परम प्रेमीके मिलनकी तीव्र लालसासे ध्यानका साधन आरम्भ करे।

मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन कर, भगवान्‌के चित्रोंका अवलोकन कर, संत-महात्माओंके द्वारा सुनकर या सौभाग्यवश स्वप्नमें प्रभुके दर्शन कर भगवान्‌के जैसे साकाररूपको बुद्धि मानती हो, याने भगवान्‌का साकाररूप साधककी समझमें जैसा आया हो, उसीकी भावना करके ध्यान करना चाहिये। साधारणत भगवान्‌की मूर्तिके ध्यानकी भावना इस प्रकार की जा सकती है।

(१) भूमिसे करीब सवा हाथकी ऊँचाईपर आकाशमें अपने सामने ही भगवान् विराजमान हैं। भगवान्‌के अतिशय सुन्दर चरणारविन्द नीलमणिके ढेरके समान चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं। चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ हैं और उनपर स्वर्णके रत्नजटित नूपुर शोभित हो रहे

हैं। भगवान्‌के जैसे चरणकमल हैं वैसे ही उनके जानु और जङ्घा आदि अङ्ग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके अन्दरसे चमक रहे हैं। अहो! अत्यन्त सुन्दर चार लम्बी-लम्बी भुजाएँ शोभा दे रही हैं। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र और नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं। चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि एक-से-एक सुन्दर आभूषण सुशोभित हैं। अहो! अत्यन्त विशाल और परमसुन्दर भगवान्‌का वक्षःस्थल है जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न अङ्कित हो रहा है। नीलकमलके समान सुन्दर वर्णवाली भगवान्‌की ग्रीवा अत्यन्त सुन्दर है और वह रत्नजटित हार, कौस्तुभमणि तथा अनेक प्रकारके मोतियोंकी, स्वर्णकी, भाँति-भाँतिके सुन्दर दिव्य-गन्ध पुष्पोंकी और वैजयन्ती मालाओंसे सुशोभित है। सुन्दर चिबुक (ठुड्डी), लाल-लाल ओष्ठ और मनोहर नुकीली नासिका है, जिसके अग्रभागमें दिव्य मोती लटक रहा है। भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नील कमलके सदृश खिले हुए हैं। कानोंमें रत्नमण्डित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारण तिलक तथा शीशपर मनोहर मणिमुक्तामय किरीट-मुकुट शोभायमान हो रहे हैं। अहो! भगवान्‌का अतुलनीय मनोहर मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रकी शोभाको लजाता हुआ मनको हरण कर रहा है। मुखमण्डलके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें देदीप्यमान हैं जिनके प्रकाशसे भगवान्‌के मुकुटादि सम्पूर्ण आभूषणोंके रत्न सहस्र-सहस्र गुण अधिक चमक रहे हैं। अहो! आज मैं धन्य हूँ! धन्य हूँ!

जो मन्द-मन्द हँसते हुए परमानन्दमूर्त्ति हरि भगवान्‌का ध्यान कर रहा हूँ।

इस प्रकार भावना करते करते जब भगवान्‌का स्वरूप भलीभाँति स्थित हो जाय, तब प्रेममें विह्वल होकर साधकको भगवान्‌के उस मनमोहन स्वरूपमें चित्तको स्थिर कर देना चाहिये। ध्यानका अभ्यास करते-करते जब साधकको अपना और संसारका एवं ध्यानका भी ज्ञान नहीं रहता, केवल एक मनमोहन भगवान्‌का ही ज्ञान रह जाता है तब साधककी भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि हो जाती है। ऐसा होनेपर साधक तत्काल ही भगवान्‌के वास्तविक तत्त्वको जान जाता है और तब भगवान् उसके प्रेमवश हो साक्षात् साकाररूपमें प्रकट होकर उसे अपने दर्शनसे कृतार्थ करनेको बाध्य होते हैं। श्रीभगवान्‌ने कहा भी है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज स्वरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जानने के लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इस प्रकार भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद वह भक्त कृतकृत्य हो जाता है। उसके सम्पूर्ण अवगुण नष्ट हो जाते

हैं और वह पूर्ण महात्मा बन जाता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। श्रीगीताजीमें कहा है—

> मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
> नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (८।१५)

'परमसिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखके स्थानरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

दूसरी विधि

(२) अपने हृदयाकाशमें शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए श्रीविष्णुभगवान्‌का चिन्तन करते-करते निम्नलिखित रूपसे मन ही मन उनके स्वरूप और गुणोंकी भावना करते हुए उन्हें बारम्बार नमस्कार करना चाहिये।

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषजीकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका मनोहर नील वर्ण है, अत्यन्त सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र भगवान् विष्णुको मैं अवनत-मस्तक होकर प्रणाम करता हूँ।*

---

* बन्दौं विष्णु विश्वाधार

सान्तकान्ति, मुरारि, रमापति, सुभग-शान्ताकार।
कमल-लोचन, कष्टहर, कल्मष-पद-गतार॥

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वीतलोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जिनमें गम्भीरता है, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं दे सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवलमात्र कल्पना ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे उस अनुपमेय श्रीहरि भगवान्को मेरा बारम्बार नमस्कार है।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णुभगवान् मन्द-मन्द मुसकुरा रहे हैं, जिनके समस्त अङ्गोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई परम शोभा दे रही हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्को मेरा बारम्बार नमस्कार है। इस तरह अभ्यास करते-करते जब चित्त शान्त, निर्मल और प्रसन्न हो जाय तब अपने मनको उस शेष शायी भगवान् नारायणदेवके ध्यानमें अचल कर देना चाहिये।

नील-नीरदवपु, नीरज नाम, नम-अनुहार।
मृदुल्ला-कौस्तुभ-सुशोभित-हृदय-सुषमहार ॥
शङ्ख-चक्र गदा-कमल-युत भुज विभूषित चार।
पीतपट-शुभ्र मनोहर, अङ्ग अङ्ग उदार ॥
शेष-शय्या-शयित योगी ध्यान-गम्य अपार।
हरण भव-भय दु:खमय अशरण-शरण अविकार ॥

('पत्रपुष्प'से उद्धृत)

परमात्माके साकार और निराकार स्वरूपका ध्यान करनेके और भी बहुत-से साधन हैं, यहाँ केवल कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इस विषयका विशेष ज्ञान तो श्रीपरमात्मा और महात्माओंकी शरण ग्रहण कर साधनमें तत्पर होनेसे ही प्राप्त होता है। साकारके ध्यानमें यहाँ केवल श्रीविष्णुभगवान्के दो प्रकार बतलाये गये हैं। साधकगण इसी प्रकार अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रीतिके अनुसार श्रीराम, कृष्ण और शिव आदि भगवान्के अन्यान्य स्वरूपोंका भी ध्यान कर सकते हैं। फल सबका एक ही है।

एकान्त देशसे उठनेके बाद व्यवहारकालमें भी चलते-फिरते, उठते-बैठते सब समय अपने इष्टदेवके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन उसी प्रकार करते रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जीवनके अमूल्य समयका एक क्षण भी श्रीभगवान्के स्मरणसे रहित नहीं जाना चाहिये। जीवनमें सदा-सर्वदा जैसा अभ्यास होता है अन्तमें भी उसीकी स्मृति रहती है और अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही उसकी गति होती है। इसीसे भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

> तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
> (८।७)

'इसलिये (हे अर्जुन ! तू) सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ (तू) निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म भगवान्‌के ध्यानसे साधकका हृदय पवित्र और निर्मल होता चला जाता है। सम्पूर्ण चिन्ताओंका विनाश होकर अन्तःकरणमें एक विलक्षण शान्तिकी स्थापना होती है। चित्त एकाग्र और अपने अधीन हो जाता है। साधनकी वृद्धिसे ज्यों-ज्यों अन्तःकरणकी निर्मलता और एकाग्रता बढ़ती है त्यों-ही-त्यों सच्चे आनन्दकी भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। सच्चे सुखका जब साधकको ज़रा-सा भी अनुभव मिल जाता है तब उसे उस सुखके सामने त्रिलोकीके राज्यका सुख भी अत्यन्त तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगता है। इस स्थितिमें साधारण भोगजनित मिथ्या सुखोंकी तो यह बात ही नहीं पूछता। बल्कि भोग-विलास तो उस साधकको नाशवान्, क्षणिक और प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकारके साधनसे साधककी वृत्तियाँ बहुत ही शीघ्र संसारसे उपराम होकर भगवान्‌के स्वरूपमें अटल और स्थिर हो जाती हैं। साधक उस सच्चे और अपार आनन्दको सदाके लिये प्राप्त होकर तृप्त हो जाता है। उसके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है।

प्रिय पाठकगण! हमें इस बातका दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सर्वशक्तिमान् आनन्दकन्द भगवान्‌का साक्षात् करना ही है। यही इस लोक और परलोकमें सबसे महान् नित्य और सत्य सुख है। इसको छोड़कर अन्यान्य जितने भी सांसारिक सुख प्रतीत होते हैं

वे वास्तवमें सुख नहीं हैं। केवल मोहसे उनमें सुखकी मिथ्या प्रतीति होती है। वास्तवमें वे सब दुःख ही हैं। योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२।१५)

'संसारके समस्त विषयजन्य सुख परिणाम, ताप और सांसारिक दुःखोंसे मिले हुए होने तथा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंकी वृत्तियोंके परस्पर विरोधी होनेके कारण विवेकी पुरुषोंके लिये दुःखमय ही हैं।'

अतएव इन क्षणिक, नाशवान् और कृत्रिम सुखोंको सर्वथा परित्याग कर हमें अत्यन्त शीघ्र तत्पर होकर उस सच्चे सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें उत्साह और दृढ़तापूर्वक लग जाना चाहिये।

सप्त-महाव्रत

महात्मा गान्धी

श्रीहरिः

निवेदन

यरवदा-कारा-मन्दिरसे पूज्यपाद महात्माजी अपने आश्रमवासियोंको गुजरातीमें जो प्रवचन लिख भेजते थे, उन्हींमेंसे सात प्रवचनोंका हिन्दी-भाषान्तर इस पुस्तकमें छापा गया है। अनुवाद हिन्दी नवजीवनके सम्पादक मित्रवर श्रीकाशीनाथजी त्रिवेदीका किया हुआ है। उन्होंने ही कृपापूर्वक प्रवचनोंको पुस्तकरूपमें प्रकाशित कर प्रचार करनेकी शुभ सलाह दी थी, इसके लिये हमलोग उनके कृतज्ञ हैं। आशा है सर्वसाधारण महात्माजीके अनुभवपूर्ण एक-एक शब्दसे लाभ उठायेंगे।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

विषय-सूची

ॐ

सप्त-महाव्रत

सत्य

सत्य शब्दका मूल सत् है। सत्के मानी हैं होना, सत्य अर्थात् होनेका भाव। सिवा सत्यके और किसी चीजकी हस्ती ही नहीं है। इसीलिये परमेश्वरका सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। चुनांचे, परमेश्वर सत्य है, कहनेके बदले सत्य ही परमेश्वर है यह कहना ज्यादा मौजूं है। राज चलानेवालेके बिना, सरदारके बिना, हमारा काम नहीं चलता, इसीसे परमेश्वर-नाम ज्यादा प्रचलित है और रहेगा। पर विचार करनेसे तो सत्य ही सच्चा नाम मालूम होता है और यही पूर्ण अर्थका सूचक भी है।

जहाँ सत्य है वहाँ ज्ञान—शुद्ध ज्ञान है ही। जहाँ सत्य नहीं वहाँ शुद्ध ज्ञान हो नहीं सकता, इसीलिये ईश्वर-नामके साथ चित्—ज्ञान शब्द जोड़ा गया है। जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही हो सकता है, शोक हो ही नहीं सकता और चूँकि सत्य शाश्वत है इसलिये आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण हम ईश्वरको सच्चिदानन्दके नामसे भी पहचानते हैं।

इस सत्यकी आराधनाके लिये ही हमारी हस्ती हो और इसीके लिये हमारी हर एक प्रवृत्ति हो। इसीके लिये हम हर बार श्वासोच्छ्वास लें। ऐसा करना सीख जानेपर हमें बाकी नियम सहज ही हाथ लगेंगे और उनका पालन भी आसान हो जायगा। बग़ैर सत्यके किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है।

आमतौरपर सत्यके मानी हम सच बोलना ही समझते हैं। लेकिन हमने तो सत्य शब्दका विशाल अर्थमें प्रयोग किया है। विचारमें, वाणीमें और आचारमें सत्य-ही-सत्य हो। इस सत्यको सम्पूर्णतया समझनेवालेको दुनियामें दूसरा कुछ भी जानना नहीं रहता, क्योंकि सारा ज्ञान इसमें समाया है, इसे हम ऊपर देख चुके हैं। इसमें जो न समा सके वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है, तो फिर उससे सच्चा आनन्द तो मिल ही कैसे सकता है? यदि हम इस कसौटीका प्रयोग करना सीख जायँ तो तुरंत ही हमें पता चलने लगे कि कौन-सी प्रवृत्ति करने योग्य है और कौन-सी त्याज्य, क्या देखने योग्य है, क्या नहीं, क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

लेकिन यह सत्य जो पारसमणि-रूप है, कामधेनु-रूप है, कैसे मिले? इसका जवाब भगवान्ने दिया है, अभ्याससे और वैराग्यसे। सत्यकी ही लगन अभ्यास है, और उसके बिना दूसरी तमाम चीजोंके लिये आत्यन्तिक उदासीनता, वैराग्य है। यह होते हुए भी हम देखा करेंगे कि एकका सत्य दूसरेका असत्य है। इसमें घबड़ानेकी कोई जरूरत नहीं। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न मालूम होनेवाले सब सत्य

एक ही पेड़के असंख्य भिन्न दीख पड़नेवाले पत्तोंके समान हैं। परमेश्वर भी कहाँ हर आदमीको भिन्न नहीं मालूम होता? तो भी हम यह जानते हैं कि वह एक ही है। लेकिन सत्य ही परमेश्वरका नाम है। इसलिये जिसे जो सत्य लगे वैसा वह बरते तो उसमें दोष नहीं, यही नहीं, बल्कि वही कर्तव्य है। यदि ऐसा करनेमें गलती होगी तो वह भी सुधर ही जायगी। क्योंकि सत्यकी शोधके पीछे तपश्चर्या होती है यानी स्वयं दुःख सहन करना होता है, उसके लिये मरना भी पड़ता है, इसलिये उसमें स्वार्थकी तो गन्धतक नहीं होती। ऐसी निःस्वार्थ शोध करते हुए आजतक कोई ऐसा न हुआ जो आखिरतक गलत रास्ते गया हो। रास्ता भूलते ही ठोकर लगती है और फिर वह सीधे रास्तेपर चलने लगता है। इसीलिये सत्यकी आराधना भक्ति है और भक्ति तो 'सिरका सौदा' है, अथवा वह हरिका मार्ग है, अतः उसमें कायरताकी गुंजायश नहीं। उसमें हार-जैसा कुछ है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीनेका मन्त्र' है।

× × × ×

इस सिलसिलेमें हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमामहसन, हुसेन, ईसाई संत वगैराके चरित्रोंका विचार कर लेना चाहिये और सब बालक, बड़े, स्त्री पुरुषको चलते-बोलते, खाते-पीते, खेलते, मतलब हर काम करते हुए सत्यकी रट लगाये रहनी चाहिये। ऐसा करते-करते वे निर्दोष नींद लेने लग जायँ तो क्या ही अच्छा हो? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिये तो रत्नचिन्तामणि साबित हुआ है। हम सबके लिये हो।

अहिंसा

सत्यका, अहिंसाका मार्ग सीधा है, उतना ही सँकड़ा भी है। तलवारकी धारपर चलनेके समान है। नट लोग जिस रस्सीपर एक निगाह रखकर चल सकते हैं, सत्य और अहिंसाकी रस्सी उससे भी पतली है। जरा भी असावधानी हुई कि नीचे गिरे। प्रतिपल साधना करनेसे ही उसके दर्शन हो सकते हैं।

लेकिन सत्यके सम्पूर्ण दर्शन तो देहद्वारा हो नहीं सकते—असम्भव हैं। उसकी तो केवल कल्पना ही की जा सकती है—क्षणभङ्गुर

देहद्वारा शाश्वत-धर्मका साक्षात्कार होना सम्भव नहीं। इसलिये आखिर श्रद्धाका उपयोग तो करना ही होता है।

इसीसे जिज्ञासुको अहिंसा मिली। मेरे रास्तेमें जो मुसीबतें आवें, उन्हें मैं सहूँ या उनके लिये जिनका नाश करना पड़े उनका नाश करता जाऊँ और अपना रास्ता तय करूँ ? जिज्ञासुके सामने यह सवाल खड़ा हुआ। उसने देखा कि अगर नाश करता चलता है तो वह रास्ता तय नहीं करता, बल्कि जहाँ था वहीं रहता है। अगर संकटोंको सहता है तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाशमें उसने देखा कि जिस सत्यको वह खोज रहा है वह बाहर नहीं पर अन्तरमें है, इसलिये जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पिछड़ता जाता है, सत्यसे दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताते हैं। उनसे बचनेके लिये हम उन्हें मारते हैं। उस वक्त वे भाग तो गये, पर दूसरी जगह जाकर छापा मारा। वह दूसरी जगह भी हमारी है, यों हम एक अँधेरी गलीसे जाकर टकराये। चोरोंका उपद्रव बढ़ता गया। क्योंकि उन्होंने तो चोरीको कर्तव्य माना है। हम देख चुके हैं कि इससे अच्छा यह है कि चोरका उपद्रव सह लिया जाय। ऐसा करनेसे चोरमें समझ आवेगी। इतना सहन करनेसे हम देखेंगे कि चोर हमसे जुदा नहीं है, हमारे मन तो सब हमारे सगे हैं, रिश्तेदार हैं, मित्र हैं। उन्हें सजा नहीं दी जा सकती। लेकिन अकेला उपद्रव सहते जाना भी बस नहीं होगा, इससे कायरता पैदा हो सकती है। इससे हमने अपना एक दूसरा विशेष धर्म समझा। चोर यदि

हमारे भाई-मन्द हैं तो हमें उनमें कैसी भावना पैदा करनी चाहिये। अर्थात् हमें उन्हें अपनानेके लिये उपाय सोचनेकी तकलीफ उठानी चाहिये। यह अहिंसाका मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख ही उठाना पड़ता है। अखण्ड धैर्य धारण करना सीखना पड़ता है। और यदि ऐसा हुआ तो आखिर चोर साहुकार बनता है, हमें सत्यके अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। इस तरह हम जगत्को मित्र बनाना सीखते हैं। ईश्वरकी—सत्यकी महिमा अधिकाधिक जान पड़ती है। संकट सहते हुए भी शान्ति और सुखमें वृद्धि होती है। हमारा साहस—हिम्मत बढ़ती है। हम शास्त्र-अशास्त्रके भेदको अधिक समझने लगते हैं। कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करना सीखते हैं। अभिमान दूर होता है। नम्रता बढ़ती है। परिग्रह सहज ही कम होता है और देहके अंदर भरा हुआ मैल रोज कम होता जाता है।

आज हम जिस स्थूल वस्तुको देखते हैं वही यह अहिंसा नहीं है। किसीको कभी न मारना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावलापन—जल्दीपन—हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसीका बुरा चाहना हिंसा है। जिसकी दुनियाको जरूरत है उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है। लेकिन यों तो हम जो खाते हैं उसकी भी दुनियाको जरूरत है। जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े होते हैं, वे घबड़ाते हैं। यह जगह उनकी है। तो क्या आत्महत्या कर लें? यह भी ठीक नहीं। विचारमें देहकी सब तरहकी लाग-लपटको छोड़नेसे आखिर देह हमें छोड़ देगी। यह अमूर्छित स्वरूप ही सत्यनारायण है। इस प्रकारके दर्शन अधीर

होनेसे नहीं हो सकते। देह हमारी नहीं है, यों समझकर, हमें मिली हुई थाती—धरोहरके रूपमें हम उसका जो उपयोग कर सकें सो करके अपना रास्ता तय करते आयें।

मुझे लिखना तो था सरल, पर लिख गया कठिन। तो भी जिसने अहिंसाका थोड़ा भी विचार किया होगा उसे यह समझनेमें मुश्किल न आनी चाहिये।

इतना सब समझ लें कि अहिंसाके बिना सत्यकी खोज असम्भव है। अहिंसा और सत्य इतने ही ओतप्रोत हैं, जितनी कि सिक्केकी दोनों बाजू (Sides) या चिकनी चकरीके दोनों पहलू—उनमें कौन उल्टा और कौन सीधा है! तो भी अहिंसाको हम साधन मानें, सत्यको साध्य। साधन हमारे हाथकी बात है इसीसे अहिंसा परमधर्म कही गयी और सत्य परमेश्वर हुआ। साधनाकी फिक्र करते रहेंगे तो साध्यके दर्शन किसी-न-किसी दिन तो कर ही लेंगे। इतना निश्चय किया कि बेड़ा पार हुआ। हमारे मार्गमें चाहे जो संकट आवें, बाह्य दृष्टिसे देखनेसे हमारी चाहे जितनी हार होती दिखायी पड़े तथापि विश्वासको न डिगाते हुए हम एक ही मन्त्र जपें—(जो) सत्य है वही है, वही एक परमेश्वर है। इसके साक्षात्कारका एक ही मार्ग, एक ही साधन, अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ूँगा। जिस सत्यरूप परमेश्वरके नाम यह प्रतिज्ञा की है, उसके पालनका यह बल दे।

ब्रह्मचर्य

हमारे व्रतमें तीसरा व्रत ब्रह्मचर्यका है। हकीकत तो यह है कि दूसरे सब व्रत एक सत्यके व्रतमेंसे ही उत्पन्न होते हैं और उसीके लिये रहे हैं। जो मनुष्य सत्यका प्रण किये हुए है, उसीकी उपासना करता है, वह यदि किसी भी दूसरी चीज़की आराधना करता है तो व्यभिचारी ठहरता है। तो फिर विकारकी आराधना क्योंकर की जा सकती है? जिसकी सारी प्रवृत्ति एक सत्यके दर्शनके लिये है वह सन्तान पैदा करने या गृहस्थी चलानेके काममें क्योंकर पड़ सकता है? भोग-विलासद्वारा किसीको सत्यकी प्राप्ति हुई हो, ऐसी एक भी मिसाल हमारे पास नहीं।

अहिंसाके पालनको लें तो उसका सम्पूर्ण पालन भी ब्रह्मचर्यके बिना अशक्य है। अहिंसाके मानी हैं, सर्वव्यापी प्रेम। पुरुषके एक स्त्रीको या स्त्रीके एक पुरुषको अपना प्रेम अर्पण कर चुकनेपर उसके पास दूसरेके लिये क्या रहा? इसका तो यही मतलब हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब पीछे।' पतिव्रता स्त्री पुरुषके लिये और पत्नीव्रती पुरुष स्त्रीके लिये सर्वस्व होमनेको तैयार होगा, यानी इससे यह ज़ाहिर है कि उससे सर्वव्यापी प्रेमका पालन हो ही नहीं सकता। वह सारी सृष्टिको अपना कुटुम्ब कभी बना नहीं सकता, क्योंकि उसके पास उसका अपना माना हुआ कुटुम्ब है या तैयार हो रहा है। जितनी उसमें वृद्धि होगी, सर्वव्यापी प्रेममें उतनी ही बाधा पड़ेगी। हम देखते हैं कि सारे जगत्में यही हो रहा है। इसलिये

अहिंसाव्रतका पालन करनेवाला विवाह कर नहीं सकता, विवाहके बाहरके विकारकी तो बात ही क्या?

तो फिर जो विवाह कर चुके हैं उनका क्या हो? उन्हें सत्य किसी दिन नहीं मिलेगा? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकेंगे? हमने इसका रास्ता निकाला ही है। विवाहित अविवाहित-सा बन जाय। इस दिशामें इस-सा सुन्दर अनुभव और कोई मैंने किया नहीं। इस स्थितिका स्वाद जिसने चखा है, वह इसकी गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोगकी सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुषका एक दूसरेको भाई-बहन मानने लगना, सारी झंझटोंसे मुक्त होना है। संसारभरकी सारी स्त्रियाँ बहनें हैं, माताएँ हैं, लड़कियाँ हैं, यह विचार ही मनुष्यको एकदम ऊँचा उठानेवाला है, बन्धनसे मुक्त करनेवाला है। इससे पति-पत्नी कुछ खोते नहीं उलटे अपनी पूँजी बढ़ाते हैं। कुटुम्ब-वृद्धि करते हैं। विकाररूप मैलको दूर करनेसे प्रेम भी बढ़ता है, विकार नष्ट होनेसे एक दूसरेकी सेवा भी अधिक अच्छी हो सकती है। एक दूसरेके बीच कलहके अवसर कम होते हैं। जहाँ प्रेम स्वार्थी और एकांगी है वहाँ कलहकी गुंजायश ज्यादा है।

इस मुख्य बातका विचार करनेके बाद और इसके हृदयमें ठँस जानेपर ब्रह्मचर्यसे होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्य-लाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। इरादतन भोग-विलासके लिये वीर्यहानि करना और शरीरको निचोड़ना कैसी मूर्खता है? वीर्यका उपयोग तो दोनोंकी शारीरिक, मानसिक शक्तिको बढ़ानेमें है। विषय-भोगमें उसका उपयोग करना

उसका अति दुरुपयोग है और इस कारण यह कई रोगोंका मूल बन जाता है।

ब्रह्मचर्यका पालन मन, वचन और कायासे होना चाहिये। हर व्रतके लिये यही ठीक है। हमने गीतामें पढ़ा है कि जो शरीरको काबूमें रखता हुआ जान पड़ता है, पर मनसे विकारका पोषण किया करता है, वह मूढ़, मिथ्याचारी है। सब किसीको इसका अनुभव होता है। मनको विकार पूर्ण रहने देकर शरीरको दबानेकी कोशिश करना हानिकर है। जहाँ मन है, वहाँ अन्तको शरीर भी घसीटाये बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरूरी है। मनको विकारवश होने देना एक बात है और मनका अपने आप अनिच्छासे, बलात् विकारको प्राप्त होना या होते रहना, दूसरी बात है। इस विकारमें यदि हम सहायक न बनें तो आखिर जीत हमारी ही है। हम प्रतिपल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो काबूमें रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिये शरीरको तुरंत ही वशमें करके मनको वशमें करनेकी रोज कोशिश करनेसे हम अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं—कर चुकते हैं। यदि हम मनके अधीन हो जायँ तो शरीर और मनमें विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचारका आरम्भ हो जाता है। पर कह सकते हैं कि जबतक मनोविकारको दबाते ही रहते हैं तबतक दोनों साथ-साथ चलते हैं।

इस ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, लगभग अशक्य ही माना गया है। इसके कारणका पता लगानेसे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्यका सङ्कुचित अर्थ किया गया है। जननेन्द्रिय-विकारके निरोधका ही ब्रह्मचर्यका

पालन माना गया है। मेरी रायमें यह अधूरी और खोटी व्याख्या है। विषयमात्रका निरोध ही ब्रह्मचर्य है। जो और-और इन्द्रियोंको जहाँ-तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रियको रोकनेका प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है, इसमें शक ही क्या है? कानसे विकारकी बातें सुनना, आँखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभसे विकारोत्तेजक वस्तु चखना, हाथसे विकारोंको भड़कानेवाली चीजको छूना और साथ ही जननेन्द्रियको रोकनेका प्रयत्न करना, यह तो आगमें हाथ डालकर जलनेसे बचनेका प्रयत्न करनेके समान हुआ। इसीलिये जो जननेन्द्रियको रोकनेका निश्चय करे उसे पहलेहीसे प्रत्येक इन्द्रियको उस-उस इन्द्रियके विकारोंसे रोकनेका निश्चय कर ही लिया होना चाहिये। मैंने सदासे यह अनुभव किया है कि ब्रह्मचर्यकी संकुचित व्याख्यासे नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चय मत है, और अनुभव है कि यदि हम सब इन्द्रियोंको एक साथ वशमें करनेका अभ्यास करें—रफ्त डालें तो जननेन्द्रियको वशमें करनेका प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है, तभी उसमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसमें मुख्य स्वाद-इन्द्रिय है। इसीलिये उसके संयमको हमने पृथक् स्थान दिया है। उसका अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्यके मूल अर्थको सब याद रक्खें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मकी—सत्यकी शोधमें चर्या, अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थसे सर्वेन्द्रिय-संयमका विशेष अर्थ निकलता है। सिर्फ जननेन्द्रिय-संयमके अधूरे अर्थको तो हम भुला ही दें।

अस्वाद

यह व्रत ब्रह्मचर्यसे निकट सम्बन्ध रखनेवाला है। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि यदि इस व्रतका भलीभाँति पालन किया जाय तो ब्रह्मचर्य— अर्थात् जननेन्द्रिय-संयम बिल्कुल आसान हो जाय। पर आमतौरसे इसे कोई भिन्न व्रत नहीं मानता, क्योंकि स्वादको बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके हैं। इसी कारण इस व्रतको पृथक् स्थान नहीं मिला। यह तो मैंने अपने अनुभवकी बात कही। वस्तुतः बात ऐसी हो या न हो, तो भी *चूँकि हमने इस व्रतको पृथक् माना है, इसलिये स्वतन्त्र रीतिसे इसका* विचार कर लेना उचित है।

अस्वादके मानी हैं, स्वाद न करना। स्वाद अर्थात् रस—जायका। जिस तरह दवाई खाते समय हम इस बातका विचार नहीं करते कि आया वह जायकेदार है या नहीं, पर शरीरके लिये उसकी आवश्यकता समझकर ही उसे योग्य मात्रामें खाते हैं, उसी तरह अन्नको भी समझना चाहिये। अन्न अर्थात् समस्त खाद्य पदार्थ—अतः इनमें दूध-फलका भी समावेश होता है। जैसे कम मात्रामें ली हुई दवाई असर नहीं करती या थोड़ा असर करती है, और ज्यादा लेनेपर नुकसान पहुँचाती है, वैसे ही अन्नका भी है। इसलिये स्वादकी दृष्टिसे किसी भी चीजको चखना व्रतका भंग है। जायकेदार चीजको ज्यादा खानेसे तो सहज ही व्रतका भंग होता है। इससे यह जाहिर है कि किसी पदार्थका स्वाद बढ़ाने, बदलने या उसके अस्वादको मिटानकी गरजसे उसमें नमक वगैरा मिलाना व्रतका भंग करना है। लेकिन यदि हम जानते हों कि अन्नमें नमककी अमुक मात्रामें जरूरत है और इसलिये उसमें नमक छोड़े, तो इससे व्रतका भंग नहीं होता। शरीर-पोषणके लिये आवश्यक न होते हुए भी मनको धोखा देनेके लिये आवश्यकताका आरोपण करके कोई चीज मिलाना स्पष्ट ही मिथ्याचार कहा जायगा।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता चलेगा कि जो अनेक चीजें हम खाते हैं, वे शरीर-रक्षाके लिये जरूरी न होनेसे त्याज्य ठहरती हैं और यों जो सहज ही असंख्य चीजोंको छोड़ देता है, उसके समस्त विकारोंका शमन हो जाता है। 'पेट जो चाहे सो कराये;' 'पेट चाण्डाल है,' 'पेट फूई, सुँह सुई;' 'पटमें पड़ा चारा तो

कूदने लगा बिचारा;' 'जब आदमीके पटमें आती हैं रोटियाँ। फूली नहीं बदनमें समाती हैं रोटियाँ ॥' ये सब वचन बहुत सारगर्भ हैं। इस विषयपर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रतकी दृष्टिसे स्वुराककी पसन्दगी लगभग नामुमकिन हो गयी है। इधर बचपनहीसे माँ-बाप झूठा हेत करके अनेक प्रकार की जायकेदार चीजें खिला-पिलाकर बालकोंके शरीरको निकम्मा और जीभको कुत्ती बना देते हैं। फलतः बड़े होनेपर उनकी जीवन-यात्रा शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी पायी जाती है। इसके कडुए फलोंको हम पग-पगपर देखते हैं। अनेक तरहके खर्च करते हैं, वैद्य और डाक्टरोंकी सेवा उठाते हैं और शरीर तथा इन्द्रियोंको वशमें रखनेके बदले उनके गुलाम बनकर अपंग-सा जीवन बिताते हैं। एक अनुभवी वैद्यका कथन है कि उसने दुनियामें एक भी नीरोग मनुष्यको नहीं देखा। थोड़ा भी स्वाद किया कि शरीर भ्रष्ट हुआ और तमीसे उस शरीरके लिये उपवासकी आवश्यकता पैदा हो गयी।

इस विचारधारासे कोई घबड़ाये नहीं। अस्वाद व्रतकी भयङ्करता देखकर उसे छोड़नेकी भी जरूरत नहीं। जब हम कोई व्रत लेते हैं, तो उसका यह मतलब नहीं कि तमीसे उसपर सम्पूर्ण पालन करने लग जाते हैं। व्रत लेनेका अर्थ है, उसका सम्पूर्ण पालन करनेके लिये, मरते दमतक मन, वचन और कर्मसे प्रामाणिक तथा दृढ़ प्रयत्न करना। कोई व्रत कठिन है इसीलिये उसकी व्याख्याको शिथिल करके हम अपने-आपको धोखा न दें। *अपनी सुविधाके लिये आदर्शको*

नीचे गिरानेमें असत्य है, हमारा पतन है। स्वतन्त्र रीतिसे आदर्शको पहचानकर, उसके चाहे जितना कठिन होनेपर भी, उसे पानेके लिये जी तोड़ प्रयत्न करनेका नाम ही परम अर्थ है, पुरुषार्थ है— (पुरुषार्थका अर्थ हम केवल नरतक ही सीमित न रक्खें, मूलार्थके अनुसार जो पुर यानी शरीरमें रहता है, वह पुरुष है, इस अर्थके अनुसार पुरुषार्थ शब्दका उपयोग नर-नारी दोनोंके लिये हो सकता है।) जो तीनों कालोंमें महाव्रतोंका सम्पूर्ण पालन करनेमें समर्थ है, उसके लिये इस जगत्में कुछ कार्य—कर्तव्य—है नहीं,—वह भगवान् है, मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु—सत्यका आग्रह रखनेवाले, उसकी शोध करनेवाले प्राणी हैं। इसलिये गीताकी भाषामें धीरे-धीरे, पर अतन्द्रित रहकर प्रयत्न करते चलें। ऐसा करनेसे किसी दिन प्रभु-प्रसादीके योग्य हो जायँगे और तब हमारे तमाम विकार भी भस्म हो जायँगे।

अस्वाद-व्रतके महत्त्वको समझ चुकनेपर हमें उसके पालनका नये सिरेसे प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये चौबीसों घण्टे खानेकी ही चिन्ता करना आवश्यक नहीं है। सिर्फ सावधानीकी—जागृतिकी—बहुत ज्यादा जरूरत है, ऐसा करनेसे कुछ ही समयमें हमें मालूम होने लगेगा कि हम कब और कहाँ स्वाद करते हैं। मालूम होनेपर हमें चाहिये कि हम अपनी स्वादवृत्तिको दृढ़ताके साथ कम करें। इस दृष्टिसे संयुक्तपाक—यदि वह अस्वादवृत्तिसे किया जाय—बहुत मददगार है। उसमें हमें रोज रोज इस बातका विचार नहीं करना पड़ता कि आज क्या पकावेंगे और क्या खावेंगे? जो कुछ बना है और जो हमारे लिये, त्याज्य नहीं है, उसे ईश्वरकी कृपा समझकर,

मनमें भी उसकी टीका न करते हुए, सन्तोषपूर्वक शरीरके लिये जितना आवश्यक हो, उतना ही खाकर हम उठ जायें। ऐसा करनेवाला सहज ही अस्वाद-व्रतका पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा बोझ हल्का करते हैं—हमारे व्रतोंके रक्षक बनते हैं। वे स्वाद करानेकी दृष्टिसे कुछ भी न पकावें, केवल समाजके शरीर-पोषणके लिये ही रसोई तैयार करें। वस्तुत तो आदर्श स्थिति वह है, जिसमें अग्निका खर्च कम-से-कम या बिल्कुल न हो। सूर्यरूपी महा अग्नि जो खाद्य पकाती है, उसीमेंसे हमें अपने लिये खाद्य पदार्थ चुन लेने चाहिये। इस विचार-दृष्टिसे यह साबित होता है कि मनुष्य प्राणी केवल फलाहारी है। लेकिन यहाँ इतना गहरा पैठनेकी जरूरत नहीं। यहाँ तो विचारना था कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसके मार्गमें कौन-सी कठिनाइयाँ हैं, और नहीं हैं, तथा उसका ब्रह्मचर्यके साथ कितना अधिक निकट सम्बन्ध है। इतना ठीक-ठीक हृदयङ्गम हो जानेपर सब इस व्रतके सम्पूर्ण पालनका शुभ प्रयत्न करें।

अस्तेय

अब हम अस्तेय-व्रतका विचार करेंगे। यदि गम्भीर विचार करके देखें तो मालूम होगा कि सब व्रत सत्य और अहिंसाके अथवा सत्यके गर्भमें रहते हैं और वे इस तरह बताये जा सकते हैं—

सत्य
|
अहिंसा — अथवा सत्य-अहिंसा

ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय आदि जितने बढ़ाये जायँ उतने।
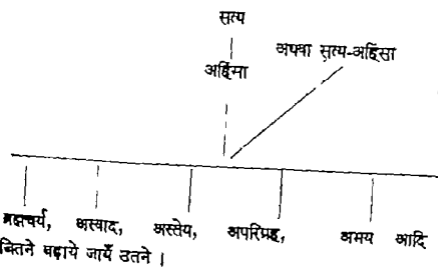
या तो सत्यमेंसे अहिंसाको स्थापित करें या सत्य-अहिंसाकी जोड़ी मानें। दोनों एक ही वस्तु हैं। तो भी मेरा मन पहलेकी ओर ही झुकता है। और अन्तिम स्थिति भी जोड़ीसे—द्वन्द्वसे अतीत है। परम सत्य अकेला खड़ा रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा एक साधन। अहिंसा क्या है, जानते हैं, पालन कठिन है। सत्यको अंशतः ही जानते हैं, सम्पूर्णतया जानना देहीके लिये कठिन है। वैसे ही जैसे अहिंसाका सम्पूर्ण पालन देहीके लिये कठिन है।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। कोई यह न मानेगा कि चोरी करनेवाला सत्यको जानता और प्रेम धर्मका पालन करता है, तो भी चोरीका अपराध तो हम सब, कम या ज्यादा मात्रामें, जानमें या अजानमें करते ही हैं। दूसरेकी वस्तुको उसकी अनुमतिके बिना लेना तो चोरी है ही, परन्तु मनुष्य अपनी कही जानेवाली चीज भी चुराता है। उदाहरणार्थ, किसी पिताका अपने बालकोंके जाने बिना, उन्हें मालूम न होने देनेकी इच्छासे, चुपचाप किसी चीजका खाना। यह कहा जा सकता है कि आश्रमका वस्तु-भण्डार हम सबका है, परन्तु उसमेंसे जो चुपचाप गुड़की डली भी लेता है, वह चोर है। एक बालक दूसरे बालककी कलम लेकर मेरी करता है। किसीके जानते हुए भी उसकी चीजको उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है। यह समझकर कि यह किसीकी भी नहीं है, किसी चीजको अपने पास रख लेनेमें भी चोरी है। अर्थात् राहमें मिली हुई चीजके मालिक हम नहीं, बल्कि उस प्रदेशका राजा या व्यवस्थापक है।

आश्रमके नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रमके मन्त्रीको सौंपी जानी चाहिये और यदि वह आश्रमकी न हो तो मन्त्री उसे सिपाहीको सौंप दे। इतनेतक तो समझना साधारणतः सहज ही है। परन्तु अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। जिस चीजको लेनेकी हमें आवश्यकता न हो, उसे जिसके पास वह है, उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। ऐसी एक भी चीज न लेनी चाहिये, जिसकी जरूरत न हो। संसारमें इस तरहकी अधिक-से-अधिक चोरी खाद्य पदार्थोंकी होती है। मुझे अमुक फलकी हाजत—आवश्यकता—नहीं है, तो भी यदि मैं उसे लेता हूँ, तो वह चोरी है। मनुष्य हमेशा इस बातको नहीं जानता कि उसकी आवश्यकता कितनी है, और प्रायः हममेंसे सब अपनी आवश्यकताओंको, जितनी होनी चाहिये, उससे अधिक बढ़ा लेते हैं। विचार करनेसे हमें मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी आवश्यकताओंको कम कर सकते हैं। अस्तेय-व्रतका पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताओंको कम करेगा। इस दुनियाकी अधिकांश कंगालियन अस्तेयके भंगके कारण पैदा हुई है।

उक्त समस्त चोरियोंको बाह्य या शारीरिक चोरी कह सकते हैं। इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिरानेवाली या पतित बनाये रखनेवाली चोरी, मानसिक है। मनसे किसीकी चीजको पानेकी इच्छा करना या उसपर जूठी नजर डालना चोरी है। बड़े-बूढ़े या बालकका किसी उम्दा चीजको देखकर ललचा जाना मानसिक चोरी है। उपवास करनेवाला शरीरसे नहीं खाता, परन्तु दूसरेको खाते

देख यदि यह मन-ही-मन स्वाद करने लगता है, तो चोरी करता है और उपवासको तोड़ता है। जो उपवासी उपवास छोड़ते समय खानेका ही विचार किया करता है, कह सकते हैं कि वह अस्तेय और उपवास दोनोंका भंग करता है। अस्तेय व्रतका पालक भविष्यमें प्राप्त होनेवाली चीजोंके लिये हवाई किले नहीं बाँधा करता। बहुतेरी चोरियोंका मूल कारण आपको यह जूठी इच्छा ही मालूम होगी। आज जो केवल विचारहीमें है, कल उसे पानेके लिये हम भले-बुरे उपाय सोचने लग जायेंगे और जैसे चीजकी वैसे ही विचारकी भी चोरी होती है। अमुक उत्तम विचार अपने मनमें उत्पन्न न होनेपर भी, जो अहंकार-वश उसे अपना बताता है, वह विचारकी चोरी करता है। दुनियाके इतिहासमें बहुतेरे विद्वानोंने भी ऐसी चोरी की है और आज भी होती रहती है। मान लीजिये कि मैं आन्ध्रदेशमें एक नयी किस्मका चर्खा देख आया, वैसा चर्खा मैंने आश्रममें बनवाया और उसे अपना आविष्कार कहना शुरू किया, तो स्पष्ट है कि मैंने इस तरह दूसरेके आविष्कारकी चोरी की है। असत्याचरण तो किया ही है।

अतएव अस्तेय व्रतका पालन करनेवालेको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बहुत सादगीसे रहना पड़ता है।

अपरिग्रह

अपरिग्रहका सम्बन्ध अस्तेयसे है। जो चीज मूलमें चोरीकी नहीं है, पर अनावश्यक है, उसका संग्रह करनेसे वह चोरीकी चीजके समान हो जाती है। परिग्रहका मतलब सञ्चय या इकट्ठा करना है। सत्य-शोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता, वह अपने लिये 'आवश्यक' वस्तु रोज-रोज पैदा करता है। इसलिये यदि हम उसपर विश्वास रक्खें तो जानेंगे कि वह हमें हमारी जरूरतकी चीजें रोज-रोज देता है और देगा। औलिया मात्रोंका यही अनुभव है। प्रतिदिनकी आवश्यकताके अनुसार ही प्रतिदिन पैदा करनेके ईश्वरीय नियमको हम जानते नहीं, अथवा जानते हुए भी पालते नहीं, इससे जगत्‌में विषमता और तज्जन्य

दुःखोंका अनुभव करते हैं। धनवान्के घर, उसके लिये अनावश्यक अनेक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, बिगड़ जाती हैं। जब कि उन्हीं चीजोंके अभावमें करोड़ों दर-दर भटकते हैं, भूखों मरते हैं और जाड़से ठिठुरते हैं। यदि सब अपनी आवश्यकतानुसार ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो, और सब सन्तोषसे रहें। आज तो दोनों तंगीका अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होनेकी कोशिश करता है, तो भी उसे सन्तोष नहीं रहता। कंगाल करोड़पति बनना चाहता है। कंगालको पेटभर मिल जानेसे ही सन्तोष होता नहीं पाया जाता। परन्तु कंगालको पेटभर पानेका हक है और समाजका धर्म है कि वह उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने सन्तोषके खातिर पहले धनाढ्यको पहल करनी चाहिये। वह अपना अत्यन्त परिग्रह छोड़े तो कंगालको पेटभर सहज ही मिलने लगे, और दोनों पक्ष सन्तोषका सबक सीखें। आदर्श आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसीका होता है, जो मन और कर्मसे दिगम्बर हो। अर्थात् वह पक्षीकी तरह गृहहीन, अन्नहीन और वस्त्र हीन रहकर विचरण करे। अन्नकी उसे रोज आवश्यकता होगी, और भगवान् रोज उसे देंगे। पर इस अवधूतस्थितिको तो विरले ही पा सकते हैं। हम तो सामान्य कोटिके सत्याग्रही ठहरे, जिज्ञासु ठहरे। हम आदर्शको ध्यानमें रखकर नित्य अपने परिग्रहकी जाँच करते रहें और जैसे बने वैसे उसे घटाते रहें। सची संस्कृति—सुधार और

सभ्यताका लक्षण परिग्रहकी वृद्धि नहीं, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसकी कमी है। जैसे जैसे परिग्रह कम करते हैं, वैसे-वैसे सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता है। सेवा-क्षमता बढ़ती है। इस दृष्टिसे विचार करते और तदनुसार बर्तते हुए हम देखेंगे कि हम आश्रममें बहुतेरा ऐसा संग्रह करते हैं, जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते। फलतः ऐसे अनावश्यक परिग्रहसे हम पड़ोसीको चोरी करनेके लिये ललचाते हैं। पर अभ्यासद्वारा आदमी अपनी आवश्यकताओंको कम कर सकता है। और जैसे-जैसे कम करता जाता है वैसे-वैसे वह सुखी और सब तरह आरोग्यवान् बनता है। केवल सत्यकी—आत्माकी दृष्टिसे विचारें तो शरीर भी परिग्रह है। भोगेच्छाके कारण हमने शरीरका आवरण खड़ा किया है, और उसे टिकाये रखते हैं। भोगेच्छा यदि अत्यन्त क्षीण हो जाय तो शरीरकी आवश्यकता दूर हो, अर्थात् मनुष्यको नया शरीर धारण करनेकी जरूरत न रहे। आत्मा सर्वव्यापक है, वह शरीररूपी पींजड़ेमें क्यों बंद रहे ? इस पींजड़ेको कायम रखनेके लिये अनर्थ क्यों करे ? दूसरोंकी हत्या क्यों करे ? इस विचारश्रेणीद्वारा हम आत्यन्तिक त्यागको पहुँचते हैं। और जबतक शरीर है तबतक उसका उपयोग सेवाके लिये करना सीखते हैं। और सो भी इस हदतक कि फिर सेवा ही उसकी सच्ची खुराक बन जाती है। तब मनुष्य खाना, पीना, सोना, बैठना, जागना, सब कुछ सेवाके लिये ही करता है। इससे पैदा होनेवाला सुख सच्चा सुख है और

मुक्त, तलवार आदिसे सज्ज नहीं। तलवार शौर्यकी संज्ञा नहीं, भयकी निशानी है।

अभय अर्थात् समस्त बाह्य भयोंसे मुक्ति—मौतका भय, धनमाल लुटनेका भय, कुटुम्ब-परिवार-सम्बन्धी भय, रोगका भय, शस्त्र प्रहार का भय, आबरू इज्जतका भय, किसीको बुरा लगनेका भय, यों भय-की वंशावली जितनी बढ़ायें, बढ़ायी जा सकती है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि एक मौतका भय जीत लेनेसे सब भयोंपर जीत मिल जाती है। लेकिन यह ठीक नहीं लगता। बहुतेरे (लोग) मौतका डर छोड़ते हैं, पर वे ही नाना प्रकारके दु खोंसे दूर भागते हैं, कोई स्वयं मरनेको तैयार होते हैं, पर सगे-सम्बन्धियोंका वियोग नहीं सह सकते। कुछ कंजूस इन सबको छोड़ देते हैं पर संचित धनको छोड़ते घबराते हैं। कुछ अपनी मानी हुई आबरू—प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिये अनेक अकार्य करनेको तैयार होते और रहते हैं। कुछ दूसरे लोक-निन्दाके भयसे, सीधा मार्ग जानते हुए भी उसे ग्रहण करनेमें झिझकते हैं। पर सत्यशोधकके लिये तो इन सब भयोंको तिलाञ्जलि दिये ही छुटकारा है। हरिश्चन्द्रकी तरह पामाल होनेकी उसकी तैयारी होनी चाहिये। हरिश्चन्द्रकी कथा चाहे कल्पनिक हो, परन्तु चूँकि समस्त आत्मदर्शियोंका यही अनुभव है, अत इस कथा की कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथाकी अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है और हम सबके लिये संग्रहणीय तथा माननीय है।

इस व्रतका सम्पूर्ण पालन लगभग अशक्य है। भयमात्रसे तो वही मुक्त हो सकता है जिसे आत्मसाक्षात्कार हुआ हो। अभय

अमूर्छस्थितिकी पराकाष्ठा—हद है। निश्चयसे, सतत प्रयत्नसे और आत्मापर श्रद्धा बढ़नेसे अभयकी मात्रा बढ़ सकती है। मैं आरम्भही-में कह चुका हूँ कि हमें बाह्य भयोंसे मुक्त होना है। अन्तरमें जो शत्रु वास करते हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम क्रोध आदि-का भय सचा भय है। इन्हें जीत लें तो बाह्य भयोंका उपद्रव अपने-आप मिट जाय। भयमात्र देहके कारण हैं। देहसम्बन्धी राग—आसक्ति—दूर हो तो अभय सहज ही प्राप्त हो। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता लगेगा कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी सृष्टि है। धनमेंसे, कुटुम्बमेंसे, शरीरमेंसे, 'ममत्व' को दूर कर देनेपर भय कहाँ रह जाता है? *'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'* यह रामबाण वचन है। कुटुम्ब, धन, देह जैसे-के-तैसे रहेंगे पर उनके सम्बन्धकी अपनी कल्पना हमें बदल देनी होगी। ये 'हमारे' नहीं, 'मेरे' नहीं, ईश्वरके हैं, मैं भी उसीका हूँ, मेरा अपना इस जगत्में कुछ भी नहीं है, तो फिर मुझे भय किसका हो सकता है? इसीसे उपनिषत्कारने कहा है कि 'उसका *त्याग* करके उसे भोगो।' अर्थात् हम उसके मालिक न रहकर केवल रक्षक बनें। जिसकी ओरसे हम रक्षा करते हैं, वह उसकी रक्षाके लिये आवश्यक शक्ति और सामग्री हमें देगा। यों यदि हम, स्वामी मिटकर सेवक बनें, शून्यवत् रहें, तो सहज ही समस्त भयोंको जीत लें, सहज ही शान्ति प्राप्त करें और सत्यनारायण-के दर्शन करें।